

गांधी चिन्तन

आज की ज्वलंत समस्याओं पर
गांधीजी के दिशादर्शक विचार



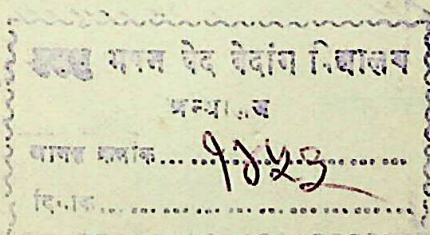
कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

गांधी-चिन्तन

वर्तमान समस्याओं पर प्रेरणादायक लेखों तथा
व्याख्यानों का संग्रह

मो० क० गांधी

अनुवादक
यशपाल जैन



१९७०

गांधी शांति प्रतिष्ठान
सस्ता साहित्य मण्डल
प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

●

पहली बार :१९७०

मूल्य :
छह रुपये
रु० ८.००

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

२५३२

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक में महात्मा गांधी के चुने हुए लेखों तथा व्याख्यानों का संग्रह किया गया है। ये रचनाएं उन समस्याओं पर विचार-प्रेरक सामग्री प्रदान करती हैं, जिनका सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति के जीवन से आता है। गांधीजी ने नीति पर हमेशा जोर दिया था और वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नीति का समावेश करने का प्रयत्न किया था। इस पुस्तक की अधिकांश रचनाओं में वही स्वर मुखरित हुआ है।

नीति-मार्ग पर चलना आसान नहीं है। उसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता होती है। यह पुस्तक उसी राजमार्ग पर चलने को न केवल प्रेरित करती हैं, अपितु उसके लिए अपेक्षित बल और साहस भी देती है।

रचनाओं का चुनाव आकाशवाणी के दिल्ली-केन्द्र ने किया है और सभी रचनाएं दिल्ली तथा अन्य केन्द्रों से प्रसारित हुई हैं। इन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिए हम आकाशवाणी के अधिकारियों के आभारी हैं।

वस्तुत: ये रचनाएं उस विशाल संग्रह से ली गई हैं, जिसे गांधी शांति प्रतिष्ठान ने अंग्रेजी में श्री वी० वी० रामन मूर्त्ति द्वारा तैयार कराया है। हम चाहते थे कि वह पूरा संग्रह हिन्दी में प्रकाशित होता, लेकिन उससे पुस्तक का आकार बढ़ जाता और उसका मूल्य इतना अधिक होता कि सामान्य स्थिति के पाठक उसे मुश्किल से खरीद पाते। पर हमारा विश्वास

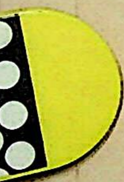
है कि प्रस्तुत पुस्तक का आकार कम हो जाने पर भी पाठक घाटे में नहीं रहेंगे, क्योंकि इसमें संक्षेप में वे सभी बातें आ गई हैं, जो बड़ी पुस्तक के पृष्ठों में कही गई हैं।

हमें हर्ष है कि पुस्तक गांधी शान्ति प्रतिष्ठान तथा सस्ता साहित्य मंडल के संयुक्त प्रकाशन के रूप में निकल रही है। इससे भी अधिक हर्ष की बात यह है कि इसका प्रकाशन गांधी जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में हो रहा है। यह इस बात का द्योतक है कि गांधीजी के सिद्धान्तों और आदर्शों की उपयोगिता कभी कम नहीं होगी।

—मंत्री

विषय-सूची

गांधी
चिन्तन



: १ :

सत्य क्या है ?

ईसाई धर्म में एक कथा है, जिसमें एक न्यायाधीश पूछता है, "सत्य क्या है ?" लेकिन उसे जवाब नहीं मिलता। हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों से पता चलता है कि हरिश्चन्द्र ने अपना सबकुछ सत्य की वेदी पर निछावर कर दिया और अपनेको, अपनी स्त्री को और अपने लड़के को एक चाण्डाल के हाथ बिक जाने दिया। आखिर उस जमाने में छुआछूत की क्या हालत रही होगी ? इमाम हसन और हुसेन ने सत्य की खातिर अपने प्राण दे डाले।

फिर भी सच्चाई यह है कि न्यायाधीश ने जो सवाल किया था, उसका जवाब नहीं मिला। हरिश्चन्द्र ने जिस रूप में सत्य को जाना, उसके लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया और अमर पद प्राप्त किया। इमाम हुसेन ने सत्य को जैसा समझा, उसके लिए अपनी प्यारी जिन्दगी दे डाली, लेकिन हरिश्चन्द्र का सत्य और इमाम हुसेन का सत्य हमारा सत्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।

जो हो, इन सीमित सत्यों से परे एक चरम सत्य है, जो समग्र और सर्वव्यापी है। लेकिन उसका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह परमेश्वर है अथवा यों कह सकते हैं कि परमेश्वर ही सत्य है, शेष सब मिथ्या और असत्य है। इसलिए दूसरी सब चीजें केवल सापेक्ष भाव में ही सत्य हो सकती हैं।

अतः, जो सत्य को चाहता है, मन, वचन और कर्म से केवल सत्य का आचरण करता है, वह ईश्वर को पहचानता है, वह त्रिकालदर्शी हो जाता है। इस देह में उसे मोक्ष की सिद्धि हो जाती है।

अगर हमें इतनी पूर्णता से सत्याचरण करने वाला एक भी आदमी मिल जाय तो स्वराज्य आज ही हमारे हाथ आ जायगा।

हममें से कुछ तो सिर्फ सत्याग्रही हैं। दूसरे शब्दों में जो सत्य के मार्ग पर ईमानदारी से चलना तो चाहते हैं, लेकिन वाणी के सीमित क्षेत्र में भी उन्हें मुश्किल से सफलता मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य के व्रत का पालन करना आसान नहीं है।

एक मित्र ने कहा, "आपने सत्य का व्रत ले लिया है और फिर भी आपने श्री दास के तार को गलत पढ़ा, जिससे उसका अर्थ अपने पक्ष में लगा लिया और बंगाल का जो योग था, यानी १५ लाख, उसकी जगह घोषित किया कि पच्चीस लाख है। इस मामले में क्या आप सूक्ष्म रूप से असत्य बोलने के अपराधी नहीं हैं?" मैंने तार का जान-बूझकर अपने पक्ष में अर्थ नहीं लगाया। अपने अनुकूल अर्थ लगाने की मेरी आदत नहीं है। लेकिन तार का मतलब लगाने में मैंने जल्दबाजी ज़रूर की। तार रात को बारह बजे के बाद आया था। यह मैं अपने अपराध को कम करने के लिए नहीं, बल्कि यह दिखाने के लिए कह रहा हूं कि किसीके फांसी के तख्ते पर चढ़ने के समय भी सत्य उतना ही तेजी से चमकना चाहिए, जितना वह हमेशा चमकता है। जो हर घड़ी और हर हालत में सत्य का अनुसरण करने की इच्छा रखता है, उसे इस तरह की उतावली का अपराध नहीं करना चाहिए। सदा सत्य के रास्ते पर चलनेवाला अनजाने भी कभी वचन या कर्म में असत्याचरण का अपराधी नहीं होता। सच यह है कि ऐसा मनुष्य इस भांति काम करने में असमर्थ होता है। इस व्याख्या के अनसार मैंने अवश्य ही सत्य का उल्लंघन किया है।

मुझे सिर्फ इस बात का सन्तोष है कि सत्य के व्रत का पालन करने की सच्ची कोशिश से अधिक मैंने और किसी चीज़ का दावा नहीं किया। मैंने जान-बूझकर झूठ बोला हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी अपने जीवन में किसी समय जान-बूझकर झूठ बोला हो। एक बार ज़रूर ऐसा हुआ, जबकि मैंने अपने पूज्य पिताजी को धोखा

दिया। सत्य बोलना और उसके अनुसार कार्य करना मेरे स्वभाव का अंग बन गया है, लेकिन मेरे लिए यह दावा करना असम्भव है कि वह सत्य, जिसकी मुझे धुंधली झलक दिखाई देती है, मेरे जीवन का अंग बन गया है। अपने किये कामों के वर्णन में अनजाने अत्युक्ति या आत्म-प्रशंसा या इसकी अनुभूति से मैं परे नहीं हूं। इनसब बातों में असत्य की छाया है और ये कभी सत्य की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकतीं। सत्य की भावना से ओत-प्रोत जीवन स्फटिक की भांति पारदर्शी और शुद्ध होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति में असत्य एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकता। कोई भी उस आदमी को धोखा नहीं दे सकता, जो हमेशा सत्याचरण करता है, कारण कि उसकी मौजूदगी में असत्य की कलई न खुले, यह हो नहीं सकता। सत्य के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करनेवाले लाखों आदमियों में से केवल बहुत थोड़े लोग ऐसे होंगे, जो अपने वर्तमान जीवन में पूरी तरह सफल हो जांय।

जब कोई मेरे सामने झूठ बोलता है तो मैं उसकी निस्बत अपने से ज्यादा गुस्सा होता हूं, क्योंकि तब मैं अनुभव करता हूं कि मेरे अन्तर में कहीं-न-कहीं असत्य अब भी विद्यमान है।

'सत्य' शब्द सत् से बना है, जिसका अर्थ है 'अस्ति' यानी होना। तीनों कालों में सिर्फ ईश्वर ही एक रूप में अपना अस्तित्व रखता है। जिसने इस सत्य के प्रति प्रेम और निष्ठा द्वारा इसे अपने हृदय में सदा के लिए स्थापित करने में सफलता पा ली है, उसे मैं हज़ार बार नमस्कार करता हूं। मैं तो बस उस सत्य की उपासना करने के प्रयत्न में लगा हूं। मुझे विश्वास है कि मैं उसकी खातिर हिमालय की चोटी से भी कूदने की हिम्मत कर सकता हूं। साथ ही मैं जानता हूं कि मैं अभी उस सत्य से बहुत दूर हूं। ज्यों-ज्यों मैं उसकी ओर बढ़ता हूं, मुझे अपनी कमियां कहीं ज्यादा साफ दिखाई देने लगती हैं और यह ज्ञान मुझे विनम्र बनाता है। जबतक मनुष्य अपनी नगण्यता को नहीं जानता तबतक ही गर्व से उसका फूल उठना सम्भव है, लेकिन जैसे ही आदमी एक बार अपनी नगण्यता को देखता है,

उसका अभिमान चूर हो जाता है। मेरा गर्व तो कभी का दूर हो चुका है। मैं अच्छी तरह से समझ सकता हूं कि तुलसीदास ने अपने को शठ क्यों कहा। यह रास्ता केवल शूरवीरों का है। कायर को उस पर नहीं चलना चाहिए। जो आदमी खाते, पीते, बैठते, सोते, कातते या मल-मूत्र त्यागते, कुछ भी करते, दिन-रात के चौबीसों घण्टे सत्य का चिन्तन करने का प्रयत्न करता है, उसकी सम्पूर्ण आत्मा सत्य से अवश्य ओत-प्रोत होगी। और जब मनुष्य-हृदय में सत्य का सूर्य अपनी पूरी आभा से चमकता है, तो वह व्यक्ति छिपा नहीं रह सकता। तब उसे बोलने या समझाने की ज़रूरत नहीं रहेगी, या उसके मुंह से निकले हर शब्द में इतनी शक्ति, इतना जीवन होगा कि दूसरे लोगों पर उसका तत्काल प्रभाव पड़ेगा। मेरे अन्दर ऐसा सत्य नहीं है। लेकिन जब मैं उस रास्ते पर चलता हूं तो मेरी उस अरण्ड की भांति दीन दशा होती है, जो बिना रूख की बंजर भूमि में बादशाह कहलाता है।

सत्य बिना प्रेम के टिक नहीं सकता। सत्य में अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा दूसरे व्रत शामिल हैं। केवल सुविधा के लिए पांचों यमों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। सत्य को जान कर जो हिंसा करता है, वह सत्य से गिर जाता है। सत्य के जानने वाले का व्यभिचारी होना उतना ही अकल्पनीय है, जितना सूर्य के चमकते हुए भी अंधेरे का बना रहना। यदि इस पूर्ण अंश में एक भी सत्याचारी व्यक्ति है, तो स्वराज्य निश्चित है, क्योंकि हर आदमी को उसका कहना वेद वाक्य के रूप में मानना होगा। सूर्य के प्रकाश को बताने की आवश्यकता नहीं होती। सत्य अपने ही प्रकाश से चमकता है। वह स्वयंसिद्ध है। इन बुरे दिनों में सत्य पर पूरी तरह आचरण करना कठिन है, लेकिन मैं जानता हूं, वह असम्भव नहीं है। अगर हममें से बहुत बड़ी संख्या में लोग कुछ हद तक भी उस पर आचरण करने की कोशिश करें तो हम स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। यदि हममें से कुछ भी अधिक-से-अधिक चेतना के साथ उसका अनुसरण करें तो भी हमें स्वराज्य मिल सकता है। बस, हम सच्चे बनें। यदि हम

रुपये में आना भर भी सत्य का आचरण करें तो भी कोई बात नहीं है, लेकिन वह होना चाहिए सत्य ही, और कुछ नहीं। उस थोड़े अंश में भी हमारे सत्याचरण में, किसी भी दशा में, जान-बूझ कर झूठ का समावेश न हो। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस पवित्र यज्ञ में हम सब सिद्धान्त के रूप में सत्य का अनुसरण करना सीखें।

नवजीवन (गुजराती)
२० नवम्बर, १९२१

: २ :

अहिंसा[1]

अहिंसा के सम्वन्ध में मैंने वास्तव में जो कुछ कहा है, उसका लेखा-जोखा यदि लाला लाजपतराय ने पहले ले लिया होता तो उन्हें वह आलोचना करने की आवश्यकता न होती, जो 'माडर्न रिव्यू' के पिछले जुलाई अंक में प्रकाशित हुई है। लालाजी ने यह ठीक ही पूछा कि जो वातें मेरी कही वतलाई जाती हैं, वे सचमुच मेरी कही हुई हैं या नहीं? वह कहते हैं कि यदि मैंने वैसा नहीं कहा तो मुझे उसका खंडन कर देना चाहिए था। पहली वात तो यह है कि जिन पत्रों में मेरी कही हुई वातें या उनपर की हुई टीकाएं छपी हैं, उन्हें मैंने अभी तक नहीं देखा। दूसरे, मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मेरे व्याख्यानों के सम्वन्ध में समाचार-पत्रों में प्रकाशित होनेवाली रिपोर्टों में जो भूलें हो जाती हैं, उन सवका खंडन मैं नहीं कर सकता। लालाजी के लेख को गुजराती के वहुत-से समाचार-पत्रों तथा दूसरे अखवारों ने उद्धृत किया है और शायद अपनी स्थिति को स्पष्ट कर देना मेरे लिए उचित होगा। लालाजी के प्रति आदर रखते हुए भी मुझे उनकी इस वात का खंडन कर देना चाहिए कि अहिंसा के सिद्धांत की अति के कारण भारत का अघःपतन हुआ। इस विश्वास का कोई भी ऐतिहासिक आधार नहीं है कि हमारे वहुत-से गुण अहिंसा की अति-साधना के कारण

---

१. लाला लाजपतराय के गांधीजी की अहिंसा के सम्वन्ध में आलोचनात्मक लेख का, जो 'माडर्न रिव्यू' के जुलाई १९१६ के अंक में प्रकाशित हुआ था, गांधीजी ने यह उत्तर दिया था।

समाप्त हो गए। पिछले पन्द्रहसौ वर्षों में एक राष्ट्र के रूप में हमने शारीरिक साहस के पर्याप्त प्रमाण दिये हैं, लेकिन भीतरी झगड़ों ने हममें फूट डाली और देश-प्रेम की जगह हमारा स्वार्थ अधिक प्रबल रहा, अर्थात हम धर्म-भावना की अपेक्षा अधर्म-भावना से परिचालित होते रहे।

मैं नहीं जानता कि जैनों पर कापुरुषता का लांछन किस हद तक सिद्ध किया जा सकता है। मैं उनकी वकालत नहीं करता।

मैं जन्म से वैष्णव हूं और बचपन से ही मुझे अहिंसा की शिक्षा दी गई है। जिस प्रकार संसार के सभी महान धर्मों के धार्मिक ग्रन्थों से मैंने धर्म लाभ लिया है, वैसे ही जैन धर्म के ग्रन्थों से भी बहुत फायदा उठाया है। स्वर्गीय दर्शनशास्त्री राजचन्द्र कवि का, जो जन्म से जैन थे, मैं बहुत ही आभारी हूं। इस प्रकार यद्यपि मेरे अहिंसा संबंधी अपने विचार संसार के अधिकांश धर्मों के अध्ययन का परिणाम हैं, तथापि अब वे इन ग्रन्थों के प्रमाण पर निर्भर नहीं हैं। वे मेरे जीवन के अंग हैं और यदि अचानक मुझे यह पता लग जाय कि मेरे द्वारा पढ़े गए धर्म-ग्रन्थों का जो अर्थ मैंने समझा था, वह नहीं था, तो भी मैं अहिंसा के विषय में वही दृष्टि रखूंगा, जिसे मैं यहां प्रस्तुत करने जा रहा हूं।

हमारे शास्त्रों का उपदेश कुछ ऐसा है कि जो व्यक्ति वास्तव में अहिंसा का पूर्णतया आचरण करता है, संसार उसके चरणों में आ झुकता है। अपने आसपास के वातावरण को वह ऐसा प्रभावित करता है कि सर्प तथा अन्य विषैले जन्तु भी उसे हानि नहीं पहुंचाते। असीसी के सन्त फ़्रांसिस का यही अनुभव बताया जाता है।

निषेधात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ होता है किसी जीवित प्राणी को शरीर या मन से पीड़ा न पहुंचाना। इसलिए अहिंसा किसी दुष्कर्म करने-वाले के शरीर को चोट नहीं पहुंचा सकती, न उसके प्रति दुर्भावना रखकर उसे मानसिक पीड़ा पहुंचा सकती है। इस कथन में वह पीड़ा शामिल

नहीं है, जो दुष्कर्मी को मेरी स्वाभाविक क्रियाओं से पहुंचती है—उन क्रियाओं से, जो दुर्भावना में से पैदा नहीं होतीं। अतः यदि मुझे ऐसा लगे कि कोई व्यक्ति किसी बच्चे पर प्रहार करने ही वाला है, तो अहिंसा मुझे उसके सामने से बच्चे को अलग कर देने से नहीं रोकती। सच यह है कि यदि मैं किसी भी रूप में बच्चे का अभिभावक हूं, तो अहिंसा के समुचित आचरण का तकाजा है कि मैं अत्याचारी के सामने से उस बच्चे को हटाऊं। इसलिए दक्षिण अफ़्रीका के निष्क्रिय प्रतिरोधियों के लिए यह नितान्त उचित था कि वे वहां की संघ सरकार के उन अत्याचारों का विरोध करें, जो वह उनके प्रति करना चाहती थी। उनके मन में सरकार के प्रति कोई दुर्भावना नहीं थी। जब कभी सरकार को उनकी सहायता की आवश्यकता हुई, उन्होंने सहायता देकर अपनी सद्भावना को प्रकट भी किया। उनके प्रतिरोध का स्वरूप मृत्यु तक का कष्ट उठाकर भी सरकार की आज्ञाओं की अवहेलना करना था। अहिंसा का अर्थ जान-बूझकर स्वयं कष्ट भोगना होता है; जिसे हम अत्याचारी मानते हैं, उसे जान-बूझकर कष्ट पहुंचाना नहीं।

अपने भावात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ होता है प्रेम और उदारता की पराकाष्ठा। यदि मैं अहिंसा का पुजारी हूं, तो मुझे अपने शत्रु को प्यार करना चाहिए। अगर कोई व्यक्ति, जो मेरा दुश्मन है या मेरे लिए अपरिचित है, मेरे प्रति बुराई करता है, तो मुझे उसके साथ वही व्यवहार करना चाहिए, जो मैं बुराई करनेवाले पिता या पुत्र के साथ करूंगा। इस सक्रिय अहिंसा में सत्य और अभय अनिवार्य रूप में आ जाते हैं। कोई भी मनुष्य अपने प्रियजनों को धोखा नहीं दे सकता। वह उनसे डरता या उन्हें डराता नहीं है। जीवन-दान सारे दानों में सबसे बड़ा है। जो व्यक्ति वास्तव में जीवन की भेंट देता है, वह सारी शत्रुता को निरस्त्र कर देता है। वह सम्मानपूर्ण समझौते का रास्ता खोल देता है और जो मनुष्य स्वयं भय का शिकार है, वह इस भेंट को देने में असमर्थ है। इसलिए उसे स्वयं निर्भय होना चाहिए। ऐसी दशा में यह नहीं हो सकता कि मनुष्य अहिंसा की साधना

करे, साथ ही कायर भी हो। अहिंसा के पालन के लिए अधिकतम साहस की आवश्यकता होती है। सिपाही के गुणों में यह सर्वाधिक सिपाहियाना गुण है। जनरल गार्डन की एक प्रसिद्ध प्रतिमा में उसके हाथ में केवल छड़ी दी गई है। यह हमें अहिंसा के मार्ग पर बहुत आगे ले जाता है। लेकिन जो सैनिक अपनी रक्षा के लिए छड़ी की भी सहायता लेता है, वह उस हद तक अपनी बहादुरी खो देता है। सच्चा सिपाही तो वह है, जो मरना जानता है और गोलियों की बौछार के बीच भी अविचल रहता है। अम्बरीष ऐसा ही व्यक्ति था। दुर्वासा जो बुरे-से-बुरा कर सकता था, उसने किया, लेकिन अम्बरीष अपनी जगह पर डटा रहा, उसने अंगुली तक नहीं उठाई। मूरों ने उस समय इसी प्रकार का साहस दिखाया, जब फ्रांसीसी तोपची उनपर गोले दाग रहे थे, वे अल्लाह के नारे लगाते हुए तोपों के सामने बढ़ते जा रहे थे। बेशक, उनका यह साहस निराशा से उत्पन्न साहस था। अम्बरीष का साहस प्रेम से उत्पन्न हुआ था। फिर भी मूरों के साहस, मरने की तत्परता ने तोपचियों के हृदय जीत लिये। उन्होंने जोर-जोर से अपनी टोपियां हिलाईं, गोले दागना बंद कर दिया और अबतक जो उनके शत्रु थे, उनका मित्र की तरह स्वागत किया।

इसी प्रकार दक्षिण अफ़्रीकी निष्क्रिय प्रतिरोधी छोटी-मोटी व्यक्तिगत सुविधा के लिए अपना ईमान बेचने की अपेक्षा हजारों की संख्या में मरने को तैयार थे। यह थी सक्रिय रूप में अहिंसा। अहिंसा कभी सम्मान का सौदा नहीं करती। कोई असहाय बालिका अहिंसा के किसी अनुयायी के संरक्षण में जितनी सुरक्षित है, उतनी उसके संरक्षण में नहीं, जो शस्त्रों की शक्ति के टिकने तक उसकी रक्षा करने को तैयार है। पहली परिस्थिति में अत्याचारी को संरक्षक की लाश पर से होकर उसतक पहुंचना होगा। दूसरी परिस्थिति में उसके संरक्षक को काबू में लाना होगा, क्योंकि यह माना जाता है कि यदि संरक्षक शारीरिक शक्ति की हद तक पूरा संघर्ष कर चुका तो उसकी कर्तव्य-भावना तुष्ट हो जायगी। चूंकि पहली

परिस्थिति में अत्याचारी ने अपनी आत्मा को अत्याचारी के शरीर के मुकाबले खड़ा किया है, अतः सम्भावना यह है कि प्रतिद्वन्द्वी की आत्मा जाग उठेगी और हम कल्पना नहीं कर सकते कि इसके सिवा किसी अन्य परिस्थिति में बालिका के सम्मान की रक्षा की अधिक सम्भावना होगी। यदि स्वयं बालिका अपने निजी साहस का परिचय दे तो बात अलग है।

यदि आज हममें पुरुषत्व का अभाव है तो वह इसलिए नहीं कि हम वार करना नहीं जानते, बल्कि इसलिए कि हम मरने से डरते हैं। वह व्यक्ति जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर या बुद्ध अथवा वेदों का अनुयायी नहीं है, जो मृत्यु से डरकर किसी वास्तविक या काल्पनिक भय के सामने से भाग खड़ा होता है, और बराबर यह चाहता रहता है कि और कोई व्यक्ति अत्याचारी का नाश करके खतरे को दूर कर दे। वह मनुष्य अहिंसा का अनुयायी नहीं है, जो व्यापार में धोखा देकर किसीको तिल-तिल करके मारता है, या जो हथियार उठाकर कुछ गायों की रक्षा करता है और कसाई के प्राण ले लेता है, या जो देश के तथाकथित लाभ की आशा में शासन के कुछ अधिकारियों की हत्या करने से नहीं हिचकता। इन सबकी जड़ में घृणा, कायरता और भय है। गाय या देश के प्रति प्रेम एक धूमिल-सी चीज है और उसका उद्देश्य अपने देश को संतुष्ट अथवा व्यथित आत्मा को सहलाना है।

मेरी विनम्र सम्मति में अहिंसा को सच्चे अर्थों में समझा जाय, तो वह लौकिक तथा पारलौकिक सारी बुराइयों के लिए रामबाण है। इसके आचरण में अति कदापि सम्भव नहीं है। इस समय तो हम ऐसा बिल्कुल नहीं कर रहे। अहिंसा दूसरे सद्गुणों के आचरण का स्थान नहीं ले लेती, बल्कि उनका आचरण अहिंसा के प्रारम्भिक रूप को पालन के लिए भी आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। लालाजी को अपने पिता के विश्वास की अहिंसा से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। महावीर और बुद्ध और इसी प्रकार टाल्स्टाय सिपाही थे। अलबत्ता उन्होंने अपने धंधे को अधिक

गहराई तथा सचाई से देखा और सत्य, सुख और सम्मानपूर्ण जीवन के रहस्य को समझा। हम भी इन गुरुजनों के पथ पर चलें तो हमारा यह देश एक वार फिर देवभूमि वन जायगा।

कलेक्टेड वर्क्स ऑव महात्मा गांधी
(खण्ड १३, पृष्ठ २९४ से २९७),
अक्तूबर, १९१६

: ३ :

अहिंसा की क्रिया

अहिंसा कैसे काम करती है, इस सम्बन्ध में लार्ड लोथियन ने मुझे लिखा है। उनका कहना है:

"मैंने 'हरिजन' के हाल ही के अंक तथा यूरोपियन संकट और सीमा प्रदेश के विषय में आपकी टिप्पणी को बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा है। लेकिन अहिंसा की समस्या का एक पहलू है, जिसके बारे में अगर समय होता तो मैं गांव में आपसे चर्चा करता। उसके सम्बन्ध में आप शायद ही या कभी भी उल्लेख नहीं करते। आप कहते हैं कि आपने जिस प्रकार अहिंसात्मक असहयोग का विकास किया है, यह उस हिंसा का उत्तर है, जो अब सारे संसार को विनाश से भयभीत कर रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी भावना और कार्य का गहरा प्रभाव पड़ता है, किन्तु शत्रु और मित्र, सबके प्रति निस्स्वार्थ प्रेम की अहिंसात्मक भावना को यदि सफल होना है तो क्या उसकी अभिव्यक्ति उदार, लोकतंत्री तथा संवैधानिक सरकार के रूप में नहीं होनी चाहिए? बिना कानून और सरकार के समाज का अस्तित्व नहीं रह सकता। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तबतक नहीं टिक सकती जबतक कि राष्ट्र संवैधानिक सरकार की पद्धति को स्वीकार न करें, जिसके द्वारा उन्हें एकता और कानून की प्राप्ति हो और जो उनके बीच अराजकता का अन्त हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक दिन ईश्वर का कानून मनुष्यों के 'हृदयों तथा मस्तिष्कों' में इस प्रकार अंकित हो जायगा कि वे वैयक्तिक रूप में उसकी अभिव्यक्ति करेंगे और उनको मानवी कानून अथवा सरकार की आवश्यकता नहीं रहेगी। लेकिन यह तो

अन्तिम लक्ष्य है। इस दैवी लक्ष्य की ओर प्रगति का श्रीगणेश इस रूप में होना चाहिए कि पहले-पहल जाति, धर्म और राष्ट्र एक संविधान के अन्तर्गत संगठित होने के लिए तैयार हों, जिसके द्वारा एकता और पारस्परिक भाईचारा कायम होता है, जिन कानूनों के अधीन वे रहते हैं, उन्हें सार्वजनिक चर्चा के वाद वनाया जाता है और जहां स्वेच्छा से उनका पालन नहीं होता, जहां अनुरोध तथा दृष्टांत काफी नहीं होते, वहां उन्हें युद्ध से नहीं, बल्कि पुलिस की शक्ति से अमल में लाया जाता है। रचनात्मक अहिंसक भावना की क्रिया का परिणाम सत्ता-सम्पन्न राष्ट्रों के वीच किसी प्रकार के संघ की स्थापना के रूप में होना चाहिए। जवतक ऐसा न हो, उसमें सफलता नहीं मिल सकती। यह भावना प्रभावशाली रूप में विद्यमान है, इसका परिणाम यही होगा कि उससे संघीय संगठन विकसित होगा। इस तरह यूरोपीय समस्या का एकमात्र हल यह है कि उसकी २५ कौमों और राष्ट्रों का एक ही लोकतंत्री संविधान के अन्तर्गत संघ बने। यह संविधान ऐसी सरकार का निर्माण करे, और यूरोप की समस्याओं को विरोधी और संघर्षशील राष्ट्रों के रूप में नहीं, वल्कि एक इकाई के रूप में देखे और उसके लिए कानून बनावे, जिसके वे स्वायत्त अंग हों। इसी भांति भारतीय समस्या का एकमात्र हल ग्रेट ब्रिटेन पर नियन्त्रण रखने के लिए एक लोकतन्त्री संविधान का लागू करना है और जो यूरोप तथा भारत के लिए सत्य है, वही आगे चलकर सारे संसार के लिए सत्य है और युद्ध को समाप्त करने का यही अन्तिम उपाय है।

अहिंसात्मक असहयोग मस्तिष्क और हृदय में परिवर्तन लाने का सर्वोत्तम, शायद एकमात्र, उपाय हो सकता है और उसके जरिये राष्ट्रों द्वारा संघीय लोकतन्त्री संविधान की स्वीकृति सम्भव हो सकती है, लेकिन लोकतन्त्री संघ की प्राप्ति आवश्यक है, क्योंकि उसके द्वारा ही सफलता निश्चित होती है और विना उसके वह सफल नहीं हो सकती। यह मेरे लिए सदा दिलचस्पी और आश्चर्य का विषय है कि आप यह सोचते जान पड़ते हैं कि अहिंसात्मक असहयोग अपने-आप में काफी है और आप कभी

यह नहीं कहते कि वह मनुष्यों, जातियों, धर्मों और राष्ट्रों को एकता के सूत्र में बांधनेवाली लोकतन्त्री सरकार के निर्माण के ध्येय की ओर ले जायगा, हालांकि, यह सिद्धि बल या हिंसा अथवा धोखे से नहीं, बल्कि हृदय के आध्यात्मिक परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप ही संभव है।

यह मैं भारतीय संविधान के लिए अप्रत्यक्ष तर्क के रूप में नहीं लिख रहा हूं, हालांकि इसका स्पष्ट सम्बन्ध उस समस्या से भी आता है। भारत सरकार अधिनियम लोकतन्त्री संघ के सिद्धान्त का निश्चय ही बड़ा अपूर्ण प्रयोग है और उसे कारगर बनाने के लिए आवश्यक रूप में उसका तत्काल विकास होना चाहिए। मैंने इसके पक्ष में हमेशा जो मुख्य तर्क दिया है वह यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में यह प्रदेशों, राज्यों, मुसलमानों और हिन्दुओं को संगठित करने के एकमात्र संवैधानिक समझौते का प्रतिनिधित्व करता है, इसे उपयोगी बनाया जा सकता है और जितना आमतौर पर माना जाता है, उससे कहीं अधिक विकास के बीज इसमें विद्यमान हैं। यदि आप आध्यात्मिक सिद्धान्त लोगों को सूचित करें तो यह तेजी से और आसानी से विकसित हो सकता है। मेरा उद्देश्य संवैधानिक समस्या के विषय में आपकी कोई राय प्रकट कराने का नहीं है, बल्कि चिट्ठी के प्रारम्भिक भाग में जो बड़ा सवाल उठाया गया है, उसका उत्तर प्राप्त करना है।

इस प्रकार लार्ड लोथियन लिखते हैं। यह पत्र मुझे जनवरी के आरम्भ में मिला था, लेकिन जरूरी काम होने के कारण मैं इसमें पूछे गये महत्वपूर्ण प्रश्न का जल्दी उत्तर नहीं दे सका।

मैंने जान-बूझकर उस समाज में सरकार के स्वरूप की चर्चा नहीं की, जो स्वेच्छा से अहिंसा पर आधारित है। सारा समाज अहिंसा के द्वारा ही एकसूत्र में बंधा हुआ है, जैसेकि पृथ्वी गुरुत्वाकर्षण के कारण अपनी स्थिति में रहती है। लेकिन जब गुरुत्वाकर्षण के नियम का पता चला तो इस आविष्कार से वे परिणाम निकले, जिनका हमारे पूर्वजों को कोई ज्ञान नहीं था। इसी प्रकार जब समाज का अहिंसा के नियम के अनुसार

स्वेच्छा से निर्माण होगा, तब उसका ढांचा आज के भौतिक उपकरणों से भिन्न होगा। लेकिन मैं पहले से ही यह नहीं कह सकता कि पूर्णतया अहिंसा पर आधारित सरकार किस प्रकार की होगी।

आज जो हो रहा है, वह है अहिंसा के नियम की अवहेलना और हिंसा की प्रतिष्ठा, जैसे वही सनातन नियम हो। इसलिए जिन लोकतन्त्रों को हम इंग्लैण्ड, अमरीका और फ्रांस में क्रियाशील देख रहे हैं, वे केवल तथा-कथित हैं, क्योंकि वे नाजी जर्मनी, फासिस्ट इटली अथवा सोवियत रूस से भी कम हिंसा पर आधारित नहीं हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि बाद के तीनों की हिंसा तीनों लोकतन्त्री शक्तियों से कहीं ज्यादा अच्छी तरह से संगठित है। फिर भी शस्त्रीकरण के मामले में एक-दूसरे को गिराने के लिए आज हम पागलपनभरी दौड़ देखते हैं और यदि संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जैसाकि एक दिन होकर रहता है, तो लोकतन्त्रों की जीत हो जाती है। ऐसा केवल इसलिए होगा, क्योंकि उनके पीछे उनकी जनता होगी, जो कि यह सोचती है कि अपनी सरकार में उसकी आवाज है, जबकि दूसरे तीन के मामले में जनता स्वयं अपनी तानाशाही के विरुद्ध विद्रोह कर सकती है।

यह मानकर कि बिना अहिंसा को राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार किये संवैधानिक अथवा लोकन्त्री सरकार जैसी चीज नहीं हो सकती, मैं अपनी शक्ति हमारे वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के प्रचार में लगाता हूं। मेरी कल्पना है कि मैंने प्रकाश देखा है, हालांकि धुंधला ही। मैं सावधानी से लिखता हूं, क्योंकि मैं यह दावा नहीं करता कि मैं अहिंसा के पूरे नियम को जानता हूं। यदि मैं अपने प्रयोगों की सफलता से अवगत हूं तो मुझे अपनी असफलताओं की भी जानकारी है। लेकिन सफलताएं इतनी हैं कि वे मुझे अमर आशा से भर देती हैं।

मैंने प्रायः कहा है कि यदि कोई साधनों की चिन्ता करता है, तो साध्य अपनी चिन्ता आप कर लेगा। अहिंसा साधन है, प्रत्येक राष्ट्र के लिए साध्य पूर्ण स्वाधीनता है। एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ तभी होगा, जबकि उसमें

सम्मिलित सभी बड़े-छोटे राष्ट्र पूरी तरह स्वाधीन होंगे। तत्सम्बन्धी राष्ट्र जिस हद तक अहिंसा को आत्मसात कर लेंगे, उसी हद तक स्वाधीनता का स्वरूप बनेगा। एक बात निश्चित है। अहिंसा पर आधारित समाज में सबसे छोटा राष्ट्र भी उतना ही बड़ा अनुभव करेगा, जितना कि सबसे बड़ा राष्ट्र। हीनता और बड़प्पन की भावना एकदम समाप्त हो जायगी।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत सरकार अधिनियम केवल अस्थायी है और उसका स्थान स्वयं राष्ट्रों द्वारा निर्मित अधिनियम लेगा। जहाँतक प्रदेशों की स्वायत्तता का सम्बन्ध है, उसे कुछ हद तक सम्भालना सम्भव पाया गया है। मेरा अपना अनुभव है कि उसका आचरण किसी प्रकार भी सुखद नहीं है। कांग्रेसी सरकारों का जनता पर उतना अहिंसात्मक प्रभाव नहीं है, जितने की कि मैंने आशा की थी कि होगा।

लेकिन संघीय ढांचा मेरे लिए अकल्पनीय है, क्योंकि वह बेमेल राष्ट्रों की ढीली साझेदारी की कल्पना है। राज्य कितने बेमेल हैं, यह ऐसे भोंड़ेपन से स्पष्ट है, जिसके लिए मैं तैयार नहीं था। इसलिए भारत सरकार अधिनियम की कल्पना के संघीय ढांचे को मैं नितान्त असंभव मानता हूं।

इस प्रकार अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि अहिंसा के प्रति समर्पित मुझ जैसे व्यक्ति के लिए संवैधानिक अथवा लोकतन्त्री सरकार उस समय तक एक दूर का सपना है, जबतक कि अहिंसा को एक सजीव शक्ति, अचूक विश्वास के रूप में, महज नीति के तौर पर नहीं, स्वीकार नहीं किया जाता। जबकि मैं सार्वजनीन अहिंसा की बात करता हूं, मेरा प्रयोग भारत तक ही सीमित है। अगर वह सफल होता है, तो दुनिया उसे बिना प्रयास के स्वीकार कर लेगी। फिर भी, इसके साथ काफी अगर-मगर लगी है। रुकावट से मुझे चिन्ता नहीं होती। अभेद्य अन्धकार के बीच मेरी निष्ठा सबसे अधिक प्रकाशमान होती है।

हरिजन
११ फरवरी, १९३९

: ४ :

शान्तिवाद तथा अहिंसात्मक प्रतिरोध

यहां मैं एक आचार्य का, जो अपना नाम गुप्त रखना चाहते हैं, एक महत्वपूर्ण पत्र दे रहा हूं :

"एक व्याकुल अन्तःकरण आवश्यक प्रश्नों को हल करने में सहायता के लिए दूसरों की तर्कसंगत राय चाहता है : क्या स्वर्गीय डिक शैपर्ड की पीस प्लेज यूनियन अर्थात् शान्ति की शपथ लेनेवाली परिषद की, जो कैसी भी परिस्थिति में हिंसा का सहारा लेने से इन्कार करके युद्ध का विरोध करने वाली एक संस्था है, शपथ लेना हमारी दुनिया के मौजूदा हालात में सही और व्यावहारिक कदम है?

इसके पक्ष में ये तर्क हैं :

१. संसार के बड़े-से-बड़े आध्यात्मिक आचार्यों ने सिखाया है और अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखाया है कि किसी बुरी चीज का अन्त अच्छे साधनों से ही किया जा सकता है और किसी भी प्रकार की हिंसा विशेषकर युद्ध की, भले ही वह पूर्णतः तथाकथित आत्मरक्षा के लिए क्यों न की गई हो, निश्चय ही एक बुरा साधन है, उद्देश्य उसका चाहे कुछ भी क्यों न हो। इसलिए हिंसा हमेशा गलत है।

२. वर्तमान हिंसा और दुर्दशा के वास्तविक कारणों को युद्ध द्वारा दूर नहीं किया जा सकता, और यह एक सनातन सत्य है, अतः हिंसा अव्यावहारिक है।

३. जो अनुभव करते हैं कि उन्हें स्वाधीनता और लोकतंत्र की रक्षा के लिए लड़ना ही चाहिए, माना कि वे इससे कम उद्देश्य के लिए

नहीं लड़ेंगे, वे अपनेको धोखा देते हैं। कोई आक्रमणकारी अपनी जीत से स्वाधीनताओं का जितना हनन करता है उससे कहीं अधिक हनन हमारी उपलब्ध स्वाधीनताओं का युद्ध द्वारा होता है, भले ही उसमें हमारी जीत क्यों न हो जाय, क्योंकि बिना सारे समाज को एक ही विचार-धारा में बांधे आधुनिक युद्ध सफलतापूर्वक नहीं लड़ा जा सकता। दूसरे, युद्ध के फल-स्वरूप, उसमें विजय किसीकी भी क्यों न हो, जिस एक विचार में बंधे समाज का उदय होगा उस समाज में एक मोहरे की भांति रहने की अपेक्षा दमन का अन्तःकरण से अहिंसात्मक प्रतिरोध करते हुए मर जाना कहीं श्रेयस्कर है।

और विपक्ष में ये तर्क हैं :

१. अहिंसात्मक प्रतिरोध उन व्यक्तियों का सामना करने में ही कारगर हो सकता है, जिनमें नैतिक तथा मानवतावादी भावनाओं से प्रभावित होने की क्षमता है—फासिस्टवाद न केवल ऐसी भावनाओं से प्रभावित ही नहीं होता, अपितु उन्हें दुर्बलता का चिह्न मानकर खुलेआम उनकी खिल्ली भी उड़ाता है, सारे प्रतिरोध को समाप्त कर देने और वैसा करने में किसी भी अंश में पाशविकता से काम लेने में उसे विवेक नहीं रहता। इसलिए फासिस्टवाद के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है। अतः वर्तमान परिस्थितियों में अहिंसात्मक प्रतिरोध नितान्त अव्यावहारिक है।

२. लोकतन्त्रात्मक स्वाधीनता की रक्षा के लिए हिंसात्मक प्रति-रोध में अर्थात् लामबन्दी की लड़ाई में सेनापति बनने से इन्कार करना उन लोगों की सहायता करने के समान है, जो उस स्वाधीनता को नष्ट कर रहे हैं। फासिस्ट आक्रमण निःसन्देह इस ज्ञान से प्रोत्साहित हुआ है कि लोक-तन्त्रों में ऐसे बहुत-से व्यक्ति होते हैं, जो आत्मरक्षा के लिए लड़ने को राजी नहीं होते और यदि लड़ाई छिड़ जाय या अनिवार्य लामबन्दी कर दी जाय तो वे अपनी सरकारों का भी विरोध करेंगे और इस प्रकार उनके रास्ते में रुकावट डालेंगे। ऐसी स्थिति में सुरक्षा के हिंसात्मक साधनों का अन्तःकरण

से विरोध करनेवाला शान्ति को बढ़ावा देने में न केवल बेकार हो जाता है, बल्कि वास्तव में उन व्यक्तियों का सहायक बन उठता है जो शान्ति को भंग करते हैं।

३. युद्ध भले ही स्वाधीनता को नष्ट कर दे, लेकिन यदि लोकतन्त्र बचा रहता है तो स्वाधीनता को पुनः प्राप्त कर लेने की कम-से-कम थोड़ी बहुत सम्भावना तो बनी ही रहती है। इसके विपरीत, यदि फासिस्टों को दुनिया पर शासन करने की छूट दे दी जाती है तो इसके लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं रहती। लोकतन्त्रात्मक शक्तियों को दुर्बल बनाकर ईमानदारी से आपत्ति करनेवाले, विरोधियों की सहायता करते हैं और इस प्रकार से वे अपने उद्देश्य को ही विफल कर देते हैं।

स्पष्ट है कि इस प्रश्न का हल करना अनिवार्य लामबन्दीवादी देशों के नवयुवकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन क्या यह वास्तव में दक्षिण अफ़्रीका, मिस्र या आस्ट्रेलिया जैसे उन देशों के लिए भी आवश्यक नहीं है, जिन्हें आक्रमण की सम्भावना का सामना करना पड़ सकता है, अथवा हिन्दुस्तान के लिए, जिसके आगे पूर्ण स्वाधीनता की स्थिति में आक्रमण की संभावना उपस्थित हो सकती है?

ऐसी सम्भावनाओं अथवा कहिये कि सम्भाव्य परिस्थितियों से क्या प्रत्येक उत्सुक अन्तःकरण को, वह चाहे युवा शरीर में हो या वृद्ध शरीर में, यह निश्चित रूप से जानना आवश्यक नहीं है कि सही और व्यावहारिक मार्ग क्या है? किसी-न-किसी रूप में, प्रतिदिन न सही, कभी-न-कभी हममें से हरेक को इस समस्या का सामना करना ही होगा। क्या आपके पाठक इस मसले का स्पष्टीकरण कर सकते हैं? जो इस उत्तर के विषय में आश्वस्त नहीं हैं, वे सोचकर अपने मन को निश्चित करें और समय आने पर उत्तर दें। जिन्हें अपने उत्तर पर भरोसा है, वे दूसरों को उतना ही भरोसा दिलाने में सहायता दें।"

शान्ति-प्रतिज्ञा लेनेवाले के प्रतिरोध के पक्ष में दिये गए तर्कों के सम्बन्ध में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। प्रतिरोध के विपक्ष में

दिये गए तर्कों की सावधानी से परीक्षा करनी आवश्यक है। यदि पहला तर्क वैध है तो वह युद्ध-विरोधी आन्दोलन की बुनियाद में, जो कि इस धारणा पर ही अवलम्बित है कि फासिस्टों तथा नाज़ियों का हृदयपरिवर्तन करना संभव है, नाकाम हो जाता है। फासिस्ट और नाज़ी उसी वर्ग के हैं, जिसके कि तथाकथित लोकतन्त्र, अथवा यह कहना अधिक सही होगा कि युद्ध-प्रतिरोधी स्वयं हैं। वे अपने परिवार के दायरों में वही कोमलता, प्रेम, मुलाहिज़ा और उदारता दिखाते हैं, जिसे युद्ध-प्रतिरोधी उन दायरों से बाहर भी दिखा सकते हैं, अन्तर केवल अंशों का है। वास्तव में फासिस्ट और नाज़ी यद्यपि तथाकथित लोकतन्त्रों की बुराइयों का जवाब नहीं है, उनके संशोधित संस्करण हैं। किर्बी पेजे ने पिछले युद्ध की क्षति से सम्बन्धित अपने विवरण में यह दिखाया है कि दोनों योद्धा झूठ, अतिशयोक्ति तथा अमानवीयता के अपराधी थे। वारसा की सन्धि, विजेताओं द्वारा जर्मनी के विरुद्ध प्रतिरोध की सन्धि थी। तथाकथित लोकतन्त्रों ने, दूसरे व्यक्तियों की भूमि कभी की हड़प ली है और भयंकर दमन किया है। यदि हिटलर एण्ड कम्पनी ने अवैज्ञानिक हिंसा को, जिसे उसके पूर्वजों ने अपने भौतिक लाभ की दृष्टि से तथाकथित पिछड़ी जातियों के शोषण के लिए विकसित किया था, विज्ञान का रूप दिया तो उसमें आश्चर्य क्या है? इसलिए यदि यह माना जाय, जैसा कि माना जाता है कि तथाकथित लोकतन्त्र अहिंसा के कुछ निश्चित परिमाण के आगे पिघल जाते हैं, तो यह पता लगाने के लिए कि फासिस्टों तथा नाज़ियों के कठोर हृदयों को पिघलाने के लिए कितनी अहिंसा चाहिए, त्रैराशिक की बात है। अतः हमें पहले तर्क को, जिसमें यदि कोई सार-तत्व सिद्ध हुआ, तो बड़ा भयंकर होगा, विचार करने से छोड़ देना चाहिए।

शेष दो तर्क व्यावहारिक हैं। शान्तिवादियों को ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जिससे उनकी सरकारें कमजोर पड़ें और पराजित हो जायें। लेकिन ऐसा करने के भय से उन्हें समस्त युद्ध की निरर्थकता में अपने अटूट विश्वास को प्रदर्शित करने के लिए एकमात्र प्रभावशाली अवसर को नहीं

खोना चाहिए। यदि उनकी अपनी सरकारें पागल हो जांय और युद्ध-प्रतिरोधकों को शहीद बना डालें तो उन सरकारों को स्वयं पैदा की हुई अशान्ति का फल भोगना ही होगा। लोकतन्त्रों को वैयक्तिक अहिंसक अन्तःकरण की स्वाधीनता का आदर करना ही चाहिए, भले ही वह उसके लिए असुविधाजनक क्यों न हो। उस आदर में से विश्व के लिए आशा उपजेगी। इसका अर्थ यह है कि वे अपने देश के तथाकथित हित की अपेक्षा अपने अन्तःकरण तथा सत्य को अधिक महत्व देंगे, क्योंकि दूसरों के अंतः-करण के प्रति आदर-भाव से, यदि वह सचमुच वैसा हो, तो किसी भी वैध पक्ष या हित को अवतक क्षति नहीं पहुंची। इसलिए इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि शान्तिवादी को प्रतिरोध अवश्य करना चाहिए, यदि वह दृढ़ता से यह अनुभव करता है कि तथाकथित लोकतन्त्र जीवित रहे या मर जाय, रस्साकशी से युद्ध का कभी अन्त नहीं होगा और ऐसा तभी होगा जबकि संकट की घड़ी में शान्तिवादियों का एक समुदाय कठोरतम दण्ड भुगत कर किसी भी दशा में अपनी जीवित श्रद्धा को कसौटी पर चढ़ा कर दिखा दे। मैं जानता हूं कि मेरे सामने विचार के लिए यह मुद्दा नहीं है कि कठोर दण्ड से कैसे बचा जाये, बल्कि मुख्य बात यह है कि हमारा आचरण किस प्रकार का हो, जिससे दृष्टिगत विषय की पूर्ति हो जाय। जहाँ निष्ठा का बहुत ही परेशान करने वाला, पर शक्तिशाली कारण किसी के आचरण का अंग होता है वहां मानवीय गणित काम नहीं देता। सच्चा शान्तिवादी सच्चा सत्याग्रही होता है। सत्याग्रही विश्वास के आधार पर काम करता है और इसलिए फल की चिन्ता नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि जब उसका कार्य सही है, तो फल तो मिलेगा ही।

आखिर, यदि तथाकथित लोकतन्त्र की जीत होती है, तो उससे मिलता क्या है? निश्चय ही युद्ध का अन्त नहीं होगा। लोकतन्त्रों ने दूसरों को अपनी आधीनता स्वीकार करने के लिए फासिस्टों तथा नाज़ियों के सारे हथकण्डे, यहाँतक कि लामबन्दी और दूसरे जबर्दस्ती के साधन, अपना लिये होते। विजय की प्राप्ति से जो लाभ हो सकता है वह है वैयक्तिक

स्वाधीनता के अपेक्षाकृत संरक्षण की संभावना, लेकिन वह संरक्षण बाहरी सहायता पर निर्भर नहीं करता, वह तो सारी दुनिया के विरुद्ध उसे बचाने के आंतरिक संकल्प से प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में सच्चा लोकतन्त्रवादी वह है, जो पवित्र अहिंसात्मक साधनों से अपनी और इसलिए अपने देश की, अंततोगत्वा सारी मानव-जाति की स्वाधीनता की रक्षा करता है। आगे आनेवाली अग्नि-परीक्षा में शान्तिवादियों को इस बात से दृढ़तापूर्वक इन्कार करके कि उन्हें रक्षात्मक या आक्रामक युद्ध से कुछ भी सरोकार है, अपनी निष्ठा को सिद्ध करना है। लेकिन प्रतिरोध के कर्त्तव्य के अधिकारी वही व्यक्ति होते हैं, जो अहिंसा में धर्म के रूप में विश्वास करते हैं, वे लोग नहीं जो हर मामले के गुण-दोष का हिसाब लगाते हैं, जांचते हैं और निश्चय करते हैं कि आया किसी युद्ध विशेष का उन्हें समर्थन करना चाहिए या विरोध। इससे नतीजा यह निकलता है कि इस प्रकार के प्रतिरोध के विषय में प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं तथा अन्तर की आवाज को सुनकर, यदि वह उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है, निर्णय करना चाहिए।

हरिजन,
१५, अप्रैल १९३९

: ५ :

श्रद्धा बनाम बुद्धि

मांडले से एक एम० बी० बी० एस० एक प्रश्न-माला भेजते हैं, जिसका पहला प्रश्न है :

"आपने एक बार 'यंग इण्डिया' के पृष्ठों में अपनी राय जाहिर की थी कि श्रद्धा का आरम्भ वहां से होता है, जहां से बुद्धि की सीमा समाप्त होती है। तब मैं आशा करता हूं कि यदि कोई मनुष्य किसी चीज़ में अपने विश्वास का कारण नहीं दे सकता तो आप उसे श्रद्धा कहेंगे। ऐसी दशा में यह स्पष्ट नहीं होता कि श्रद्धा का अर्थ अकारण विश्वास करना है। क्या आप सोचते हैं कि यदि कोई आदमी तर्क से सिद्ध न की जानेवाली चीज़ में विश्वास करता है, तो वह सत्य या न्याय होगा ? इस प्रकार विश्वास करने को मैं मूर्खता समझता हूं। मैं नहीं जानता कि आपका बैरिस्टर दिमाग इसे क्या कहेगा। यदि आप मेरी ही भांति सोचते हैं, तो मैं उम्मीद करता हूं कि आप श्रद्धा को मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहेंगे।"

यह सुयोग्य डाक्टर मुझे कहने से क्षमा करेंगे तो मैं कहूंगा कि उनके प्रश्न से यह बात साफ़ झलकती है कि उन्होंने मेरा अर्थ ही नहीं समझा। जो तर्क से परे है, वह निश्चय ही निर्बुद्धिता नहीं है। मूढ़ विश्वास अंध श्रद्धा है और वह प्रायः वहम होती है। जो चीज़ तर्क से सिद्ध की जा सकती है, उसे बिना प्रमाणित किये उसमें विश्वास रखने को किसीसे कहना अत्युक्ति होगा, जैसे कि किसी बुद्धिमान व्यक्ति से बिना प्रमाण दिये यह विश्वास करने को कहना कि त्रिभुज के कोणों का योगफल दो समकोण के बराबर

होता है। लेकिन किसी अनुभवी मनुष्य के विना यह सिद्ध किये कि ईश्वर है किसी दूसरे से ऐसा मानने के लिए कहने का अर्थ है अपनी सीमाओं को नम्रतापूर्वक स्वीकार करना और दूसरे को श्रद्धापूर्वक उसके अनुभव की बात को मान लेने के लिए कहना। यह तो केवल उस व्यक्ति की विश्वस-नीयता का प्रश्न है। जीवन के साधारण मामलों में हम उन मनुष्यों की बात पर भरोसा कर लेते हैं, जिनपर निर्भर करना पसंद करते हैं, हालांकि हम अक्सर धोखा खाते हैं। तब हम जीवन और मरण के मामले में सारी दुनिया के संतों के इस कथन को क्यों स्वीकार नहीं कर लेते कि ईश्वर है और सत्य तथा निष्कपटता अर्थात अहिंसा के द्वारा उससे साक्षात्कार किया जा सकता है ? मेरे लिए अपने पत्र-लेखक से यह कहना कम-से-कम उतना ही युक्तियुक्त होगा कि वह इस विश्वजनीन कथन में श्रद्धा रक्खें, जितना कि उनका मुझसे यह कहना कि बहुत-से डाक्टरों के लाभ न पहुंचाने पर भी मैं श्रद्धा के साथ उनकी दवा ले लूं। मैं साहस के साथ कह सकता हूं कि श्रद्धा और विश्वास न रहें तो दुनिया में पल भर में प्रलय हो जाय। सच्ची श्रद्धा का अर्थ है उन व्यक्तियों के युक्तियुक्त अनुभव का आदर करना, जिन्होंने प्रार्थना और तपस्या से पवित्र जीवन व्यतीत किया है। इसलिए प्राचीन काल के पैगम्बरों और अवतारों में विश्वास करना व्यर्थ का वहम नहीं है, बल्कि अन्तरात्मा की आध्यात्मिक भूख की संतुष्टि है। अतः मार्गदर्शन के लिए मैंने विनम्रतापूर्वक जो सूत्र बताया है वह यह है कि जिस बात को प्रमाणित किया जा सके, उसे विना प्रमाण के न मानना और जिस बात को निजी अनुभव के अतिरिक्त प्रमाण द्वारा सिद्ध न किया जा सके, उसे बिना किसी शंका के मान लेना।

पत्र-लेखक का दूसरा प्रश्न है :

"९ दिसम्बर, १९२६ के 'यंग इंडिया' में छपा है कि हेरल्ड ब्लेज़र नामक डाक्टर को, जिन्होंने अपनी लड़की को क्लोरोफार्म देकर मार डाला, क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि उनका अपना अंत निकट है और उनके मरने के वाद उस लड़की की देख-भाल करने वाला कोई नहीं होगा, अदालत

ने पूरी तरह बरी कर दिया। डॉ० ब्लेज़र के वकील मि० होरी ने कहा, "डॉ० ब्लेज़र ने उस बेचारी लड़की को दूसरों पर बोझ न बनने देकर उचित और नैतिक कर्म ही किया।" इसपर आपने अपना विचार प्रकट किया कि डॉ० ब्लेज़र ने अपनी लड़की की जान लेकर भूल की, क्योंकि इससे यह झलकता है कि उन्हें अपने आसपास के लोगों पर विश्वास नहीं था और उन्हें यह मानने का कारण नहीं था कि दूसरे लोग उनकी लड़की का पालन-पोषण नहीं करेंगे। मैं कहूंगा कि अपनी राय देने में आपने वकील की तरह तर्क नहीं दिया। मैं आपसे अनुरोध करता हूं कि आप इस बारे में फिर से सोचें, क्योंकि यह कोई मामूली बात नहीं है और यह स्पष्ट है कि आपको समाज पर केवल इसलिए व्यर्थ का बोझ लादने में आपत्ति नहीं है, क्योंकि आपको पर्याप्त विश्वास है कि समाज उस बोझ को उठा लेगा। ईश्वर के नाम पर आप हमें उस बेकार, बल्कि अत्यन्त हानिकारक श्रद्धा से बचाओ। डॉक्टर ब्लेज़र के वकील ने जो कहा था, कृपा करके उसे देखिये। उसका तर्क था कि डॉक्टर ब्लेज़र ने उस बेचारी बेकार लड़की को समाज पर बोझ न बनने देकर उचित और नैतिक कार्य ही किया। यह प्रश्न बेमानी है कि समाज ने उस बच्ची की देखभाल की होती या नहीं। मैं आपसे एक सवाल पूछता हूं: यदि आगे और बहुत साल तक भारत की ईमानदारी से सेवा करके आप अंधे, गूंगे और बहरे हो जायं, दूसरे शब्दों में समाज के लिए आप किसी काम के न रहें तो क्या आप चाहेंगे कि समाज आपका पेट भरे, क्योंकि आप में अभी जान बाकी है? मैं नहीं जानता कि अहिंसा के बारे में आपके अजीब विचार क्या हैं, लेकिन मेरा जवाब बिल्कुल साफ़ है। यदि बहुत साल तक सेवा करके मैं समाज के लिए एकदम बेकार हो जाऊं तो समाज पर भार बनने की अपेक्षा मैं चाहूंगा कि मुझे मार दिया जाय, क्योंकि मैं उचित रूप में विश्वास करता हूं कि अपनेको मरवाकर और इस प्रकार अपने प्रिय समाज के सिर से बोझा हटाकर मैं उसे लाभ ही पहुंचाऊंगा। यह तो बिल्कुल अलग बात है कि सभी उपयोगी मनुष्यों और पशुओं की देख-भाल करना समाज का कर्त्तव्य है।"

मेरा दृढ़ विश्वास है कि यद्यपि जूरी ने डॉ० ब्लेज़र को मुक्त करके ठीक ही किया, तथापि नितान्त नैतिक दृष्टि से विचार करने पर डॉ० ब्लेज़र ने भूल की। मेरे पत्र-लेखक अपने उपयोगितावाद के उत्साह में यह भूल गये हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के कितने भयंकर परिणाम और फलितार्थ होंगे। सच पूछें तो उनका सिद्धान्त उनके अपने धंधे को ही गलत ठहरायगा। वह क्या कहेंगे, यदि एक नया डाक्टर क्लोरोफॉर्म देकर उस मरीज को मार डालता है, जिसे उस छोटे डाक्टर ने असाध्य और इसलिए समाज पर व्यर्थ का भार मान लिया था और उसी रोगी को एक वड़े डाक्टर ने वाद में ठीक हो जाने योग्य पाया? क्या यह डाक्टरी विद्या के लिए गर्व की वात नहीं है कि वह किसी रोग को नितान्त असाध्य न समझे। जहांतक मेरा सम्वन्ध है, मैं अपने देशवासियों से आशा करता हूं कि जव मैं वेकार और भारभूत हो जाऊंगा तव भी वे मेरा पालन-पोषण करेंगे। मैं यह मानकर कह रहा हूं कि उस समय भी मैं जीवित रहना चाहूंगा। इतना ही नहीं, यदि ऐसा अवसर आवे तो मुझे पूरा विश्वास है कि मेरे देशवासी मुझे सहारा देंगे। मुझे शक है कि आया मेरे पत्र-लेखक एक रात में सारे कुष्ठियों, अंधों और वहरों को क्लोरोफॉर्म द्वारा सदा के लिए मीठी नींद में सुलवा देना चाहेंगे और तो भी डेमियन कोढ़ी था और मिल्टन अंधा कवि था। मनुष्य मात्र शरीर नहीं है, वल्कि उससे कहीं ऊंची चीज है।

पत्र-लेखक का तीसरा प्रश्न है:

"अपने उसी लेख 'सर्वभूत हिताय' में आपने लिखा था कि अहिंसा का पुजारी उपयोगितावादी सिद्धान्त का समर्थन नहीं कर सकता। वह तो सर्वजन हिताय प्रयत्न करेगा और उसी आदर्श की सिद्धि के प्रयास में अपने प्राण दे देगा। इसलिए वह मरने को तैयार होगा, जिससे दूसरे जी सकें। तव मैं क्या यह मानूं कि आप एक विषैले सांप से काटा जाना और मर जाना पसंद करेंगे, वजाय इसके कि अपनेको वचाने के प्रयत्न में उसे मारें? अगर मेरी वात ठीक है, तो मैं कहूंगा कि आप सांप न मारकर, उसको काटने की छूट देकर इतना जघन्य पाप करेंगे, जिसकी मैं कल्पना भी नहीं कर

सकता हूं। इस प्रकार आप एक हानिकारक जिन्दा जीव को बचाने का प्रयत्न करके और तथाकथित सर्वोदय के अपने आदर्श की प्राप्ति के प्रयास में स्वेच्छा से जान देकर भारत की बड़ी-से-बड़ी क्षति करेंगे। क्या अब भी आपको यह स्पष्ट नहीं हुआ है ? क्या अब भी आप सबकी भलाई, सर्वभूत हिताय, के बारे में अपनी राय नहीं बदलेंगे ? मुझे भय है कि सारी दुनिया के भले के प्रयत्न में आप भारत का नुकसान करेंगे। आप मानते हैं कि आप अपूर्ण प्राणी हैं। इसलिए सारे संसार का भला करना आपके लिए असम्भव है। आपके लिए सारे भारत का भी सब तरह से हित करना सम्भव नहीं है। इसलिए बिना भले और बुरे, अनुपयोगी और उपयोगी, मनुष्य और पशु आदि-आदि के भेद-भाव के सबका अधिकतम हित करने के बहाने की अपेक्षा बहुजनों का अधिकतम हित करना कहीं अच्छा है।"

यह एक ऐसा सवाल है, जिसका जवाब देने से मैं बचना चाहूंगा, इसलिए नहीं कि मुझमें श्रद्धा का अभाव है, बल्कि इसलिए कि मुझमें साहस की कमी है। लेकिन मुझे अपनी श्रद्धा को छिपाना नहीं चाहिए, भले ही परीक्षा की घड़ी में उसपर अमल करने का साहस न हो। तब मेरा उत्तर यह है: मैं सांप की जान लेकर भी स्वयं जीना नहीं चाहता। मैं उसे मारने की अपेक्षा अपनेको डस कर मार डालने दूंगा। लेकिन यह सम्भव है कि यदि ईश्वर मेरी क्रूर परीक्षा ले और एक सांप को मुझपर हमला करने के लिए आने दे तब मुझ में मरने का साहस न हो, किन्तु मेरी पाशविक वृत्ति जाग उठे और मैं इस नश्वर शरीर को बचाने के लिए सांप को मार डालना चाहूं। मैं स्वीकार करता हूं कि मेरी श्रद्धा अभी तक मुझमें इतनी मूर्त्तिमान नहीं हुई है कि मैं यह बात जोर से कह सकूं कि मेरा सांपों का डर बिल्कुल दूर हो गया है और मैं उन्हें दोस्त बना सकता हूं, जैसा कि मैं करने योग्य बनना चाहूंगा। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि सांप, चीते आदि हमारे विषैले, नीच, गंदे विचारों के, ईश्वर द्वारा बनाये हुए जवाब हैं। अन्ना किंग्सफोर्ड ने तो पेरिस की सड़कों पर मनुष्यों को चीते का रूप धारण करते देखा। मेरा विश्वास है कि सभी जीव एक-से हैं। विचार निश्चित

रूप ग्रहण करते हैं। चीते और सांपों का हमसे सम्बन्ध है। वे हमारे लिए चेतावनी हैं कि हम बुरे, दुष्ट, विकारयुक्त विचार न रक्खें। यदि मैं इस धरती को जहरीले जानवरों और सरीसृपों से मुक्त चाहता हूं तो मुझे अपने अन्दर से सारे विषैले विचार निकाल देने चाहिए। यदि मैं अपने अधीर अज्ञान और शरीर को अधिक समय तक बनाये रखने की इच्छा के कारण तथाकथित जहरीले जानवरों को मारना चाहूं तो मैं विषैले विचारों से छुटकारा नहीं पा सकूंगा। अगर मैं ऐसे हानिकर जानवरों से अपनेको न बचाते हुए मर जाऊंगा तो मैं पहले से अच्छा और पूर्ण पुरुष बनकर फिर पैदा होऊंगा। ऐसा विश्वास रखते हुए मैं सांप के चोले में अपने साथी को कैसे मारना चाहूंगा? लेकिन यह तो दर्शन है। मैं भगवान से प्रार्थना करता हूं और मेरे पाठक भी उसमें सम्मिलित हो जायं, कि वह मुझे इस दर्शन के अनुसार रहने की शक्ति प्रदान करें, क्योंकि दर्शन बिना जीवन को तदनुरूप ढालना ऐसे है, जैसे बिना प्राण के शरीर।

मैं जानता हूं, हमारे देश में दर्शन बहुत हैं, पर जीवन की कमी है। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि मनुष्य के आचरण का निर्देश करनेवाले नियम अभी खोजने को हैं और उन्हें खोजने की शर्त्त अनिवार्य तथा अपरिवर्त्तनीय है। हम उनका पता मरकर ही लगा सकेंगे, मारकर कदापि नहीं। हमें सत्य और प्रेम की जीवन्त प्रतिमा बन जाना चाहिए, क्योंकि ईश्वर ही सत्य और प्रेम है।

यंग इंडिया,
१४ अप्रैल, १९२७

: ६ :

तलवार का सिद्धान्त-१

पशुबल के इस युग में किसीके लिए भी यह विश्वास करना प्राय असम्भव है कि दूसरा कोई भी व्यक्ति पशु-बल के अंतिम निर्णायक प्रभुत्वः के कानून को अस्वीकार कर सकता है और इसलिए मुझे गुमनाम पत्र मिलते हैं, जिनमें सलाह दी जाती है कि भले ही जनता में हिंसा फूट उठे, मुझे असहयोग की प्रगति में बाधा नहीं डालनी चाहिए। दूसरे लोग मेरे पास आते हैं और यह मानकर कि मैं गुपचुप हिंसा की तैयारी कर रहा हूं, मुझसे पूछते हैं कि खुली हिंसा की घोषणा करने की शुभ घड़ी कब आवेगी ? वे मुझे विश्वास दिलाते हैं कि अंग्रेज हिंसा के अलावा, चाहे वह छिपी हो या खुली, और किसी चीज़ के आगे नहीं झुकेंगे। मुझे मालूम हुआ है कि कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि मैं हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा मक्कार आदमी हूं, क्योंकि मैं अपने असली इरादे को कभी प्रकट नहीं करता और उन्हें इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि मैं हिंसा में उतना ही विश्वास करता हूं, जितना अधिकांश लोग करते हैं।

चूंकि मनुष्य-जाति का बहुमत तलवार के सिद्धान्त से इतना प्रभावित है और चूंकि असहयोग की सफलता मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि असहयोग के दरमियान हिंसा न हो और चूंकि इस मामले में मेरे विचारों का बहुसंख्यक लोगों के आचरण पर असर पड़ता है, इसलिए मैं इन बातों को जहाँतक सम्भव है, स्पष्ट कर देने को आतुर हूं।

मेरा पक्का विश्वास है कि जहां केवल कायरता और हिंसा के बीच चुनाव करने की बात हो, वहां मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूंगा। जब

मेरे सबसे बड़े लड़के ने मुझसे पूछा कि सन् १९०८ में जोहान्सबर्ग में जिस समय मुझपर घातक आक्रमण किया गया, वह वहां मौजूद होता तो क्या उसे भाग जाना और मुझे मरवा डालना चाहिए था अथवा अपने शारीरिक बल का प्रयोग करके, जो कि वह कर सकता था और करना चाहता था, करके मुझे बचाना चाहिए था? मैंने उससे कहा कि हिंसा करके भी मेरी रक्षा करना उसका कर्तव्य था। यही कारण था कि मैंने बोअर-युद्ध में, तथाकथित जुलू-विद्रोह में और पिछले महायुद्ध में, भाग लिया। इसीसे मैं उन लोगों को, जो हिंसा के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, हथियारों के प्रशिक्षण की सलाह देता हूं। अपने अपमान को हिन्दुस्तान कायरतापूर्वक या लाचार होकर देखे, उसकी निस्वत मैं चाहूंगा कि वह अपने मान की रक्षा के लिए हथियारों का सहारा ले।

लेकिन मैं विश्वास करता हूं कि अहिंसा हिंसा से लाख दर्जे अच्छी है और दण्ड देने की अपेक्षा क्षमा करने में अधिक मर्दानगी है। कहा जाता है—"क्षमा वीरस्य भूषणम्", लेकिन अपने हाथ को रोकना क्षमा तभी है जबकि मनुष्य में दण्ड देने की शक्ति हो। असहाय व्यक्ति की क्षमा का कोई अर्थ ही नहीं है। एक चूहा जब बिल्ली को अपने चिथड़े कर लेने की छूट दे देता है तो उसके प्रति क्षमाशील नहीं होता। इसलिए मैं उन लोगों की भावना की कद्र करता हूं, जो जनरल डायर और उसके साथियों को उचित दण्ड देने के लिए आवाज़ उठाते हैं। उनका बस चले तो वे जनरल डायर के टुकड़े-टुकड़े कर डालें। लेकिन मैं हिन्दुस्तान को दीन नहीं मानता, न मैं अपनेको ही असहाय मानता हूं। मैं तो बस इतना ही चाहता हूं कि हिन्दुस्तान की और मेरी शक्ति का उपयोग किसी अधिक अच्छे उद्देश्य के लिए हो।

मुझे गलत न समझा जाय। शक्ति शारीरिक क्षमता से नहीं आती। वह अदम्य इच्छा-शक्ति से प्राप्त होती है। जहां तक शारीरिक बल का सवाल है, एक औसत जुलू किसी भी औसत अंग्रेज से ज्यादा ताकतवर होता है, लेकिन वह अंग्रेज बच्चे को देखते ही भाग खड़ा होता है, क्योंकि

उसे लड़के के रिवाल्वर का या उसकी खातिर उसके इस्तेमाल करनेवाले लोगों का डर होता है। वह मौत से डरता है और हट्टे-कट्टे बदन के बावजूद हिम्मत हार बैठता है। हिन्दुस्तान में हम लोग एक क्षण में यह अनुभव कर सकते हैं कि एक लाख अंग्रेज तीस करोड़ लोगों को डरा नहीं सकते। इसलिए उनके प्रति निश्चित रूप से क्षमाशील होने का मतलब होगा अपनी शक्ति को पूरी तरह पहचानना। प्रबुद्ध क्षमा से हमारे अन्दर शक्ति की इतनी जबर्दस्त लहर पैदा होगी कि किसी भी डायर या फ्रैंक जानसन के लिए हिन्दुस्तान के निष्ठावान लोगों का निरादर करना असम्भव हो जायगा। अगर मैं इस समय अपनी बात को लोगों के गले न उतार सकूं तो मुझे इसकी कोई परवा नहीं है। हम इतना पददलित अनुभव करते हैं कि क्रोध और बदले की भावना न हो, यह असम्भव है। लेकिन मैं यह कहने से अपने को रोक नहीं सकता कि हिन्दुस्तान दण्ड देने के अधिकार को छोड़कर ज्यादा फायदा उठा सकता है। हमारे सामने अधिक अच्छा काम करने और दुनिया को अधिक अच्छा सन्देश देने को है।

मैं स्वप्नदर्शी नहीं हूं। मैं एक व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूं। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों तथा सन्तों के लिए नहीं है। वह आम लोगों के लिए भी है। अहिंसा मनुष्य-जाति का नियम है, जैसे कि पशुजगत का हिंसा नियम है। पशु की आत्मा सोई रहती है और वह शारीरिक बल के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं जानता। मनुष्य का गौरव एक उच्चतर नियम—आत्मा की शक्ति—के प्रति आदर रखने में है।

इसलिए मैंने हिन्दुस्तान के सामने आत्म-बलिदान के प्राचीन नियम को रखने का साहस किया है, क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखाएं यानी असहयोग तथा सविनय अवज्ञा और कुछ नहीं, कष्ट-सहन के ही नये नाम हैं। जिन ऋषियों ने हिंसा के बीच अहिंसा का नियम खोज निकाला, वे न्यूटन से अधिक प्रतिभाशाली थे। वे स्वयं वैलिंग्टन से भी बढ़कर योद्धा थे। शास्त्रों के प्रयोग की जानकारी रखकर उन्होंने उनकी निरर्थकता का

अनुभव किया और थकी दुनिया को सिखाया कि उसकी मुक्ति का मार्ग हिंसा नहीं, अहिंसा है।

सक्रिय अहिंसा का अर्थ है स्वेच्छा से कष्ट-सहन। इसका मतलब यह नहीं कि बुराई करनेवाले की इच्छा के आगे दीन भाव से झुक जाना, बल्कि इसका मतलब है अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपनी आत्मा की पूरी शक्ति को लगा देना। अपने अस्तित्व के इस नियम के अनुसार काम करते हुए एक अकेले आदमी के लिए भी यह सम्भव है कि वह अपने मान, अपने धर्म, अपनी आत्मा की रक्षा के लिए अन्यायी साम्राज्य की शक्ति को चुनौती दे सके और उस साम्राज्य के पतन अथवा उसके पुनरुद्धार की नींव रक्खे।

इसलिए मैं हिन्दुस्तान को अहिंसा का आचरण करने के लिए कह रहा हूं तो इस कारण से नहीं कि वह कमज़ोर है। मैं चाहता हूं कि वह अपनी शक्ति और क्षमता को जानते हुए अहिंसा का पालन करे। अपनी शक्ति का अनुभव करने के लिए हथियार चलाने की शिक्षा लेने की आवश्यकता नहीं है। अगर हमें उसकी ज़रूरत मालूम होती दिखाई देती है तो इसलिए कि हम सोचते जान पड़ते हैं कि हम मांस के एक लोथड़े हैं। मैं चाहता हूं कि हिन्दुस्तान यह समझे कि उसके पास एक ऐसी आत्मा है, जिसका कभी नाश नहीं हो सकता और वह शारीरिक दुर्बलताओं से सफलतापूर्वक ऊपर उठ सकती है और सारी दुनिया के संगठित शारीरिक बल का मुकाबला कर सकती है। राम का अर्थ क्या है? क्या उसका अर्थ है महज़ एक आदमी का अपनी वानर-सेना के साथ दश शीशवाले रावण के, जो कि चारों ओर से उमड़ते सागर से घिरी लंका में अपने को सुरक्षित मानता था, उद्धत बल के विरुद्ध जा डटना? क्या उसका मतलब शारीरिक बल पर आत्मिक बल की विजय नहीं है? जो हो, एक व्यावहारिक मनुष्य होने के नाते मैं उस समय तक रुकने को तैयार नहीं हूं जबतक कि हिन्दुस्तान यह अनुभव न करने लगे कि राजनैतिक दुनिया में आध्यात्मिक जीवन एक व्यावहारिक चीज़ है।

अंग्रेजों की मशीनगनों, टैंकों और हवाई जहाजों के सामने हिन्दुस्तान अपनेको कमजोर और निकम्मा समझता है और वह अपनी कमजोरी के कारण ही असहयोग का सहारा लेता है, फिर भी उससे वही उद्देश्य पूरा होगा, यानी अगर लोग काफ़ी संख्या में असहयोग करें तो हिन्दुस्तान अंग्रेजों के अन्याय के कुचलनेवाले बोझ से मुक्त हो जायगा।

मैं इस असहयोग को सिन फैनवाद से अलग रखता हूं, क्योंकि असहयोग की कल्पना इस प्रकार की गई है कि उसका प्रयोग हिंसा के साथ नहीं किया जा सकता। लेकिन मैं हिंसा को माननेवाले लोगों को भी आमंत्रित करता हूं कि वे इस शान्तिपूर्ण असहयोग को आज़माकर देखें। वह अपनी आंतरिक दुर्बलता के कारण असफल नहीं होगा। लोगों के उत्साह की कमी के कारण वह असफल हो सकता है। वह घड़ी असली खतरे की घड़ी होगी। ऊंची आत्मावाले लोग, जो राष्ट्रीय अपमान को अधिक नहीं सह सकते, अपने क्षोभ को बाहर निकालना चाहेंगे। अगर हिन्दुस्तान तलवार के सिद्धान्त को अपनाता है, तो वह क्षणिक विजय पा सकता है, लेकिन तब हिन्दुस्तान मेरे गर्व का विषय नहीं रहेगा। मैं हिन्दुस्तान के साथ बंधा हूं, क्योंकि मेरे पास जो कुछ है, वह उसीका दिया हुआ है। मेरा पूरा विश्वास है कि उसके पास सारी दुनिया के लिए एक सन्देश है। उसे यूरोप का अंधानुकरण नहीं करना है। हिन्दुस्तान द्वारा तलवार के सिद्धान्त का स्वीकार मेरी कसौटी की घड़ी होगी। मैं आशा करता हूं कि उस कसौटी पर मैं खरा उतरूंगा। मेरा धर्म भौगोलिक सीमाओं से मर्यादित नहीं है। अगर उसमें मेरा जीवंत विश्वास है, तो वह मेरे हिन्दुस्तान के प्रति प्रेम का भी अतिक्रमण कर जायगा। मेरा जीवन अहिंसा के धर्म द्वारा हिन्दुस्तान की सेवा के लिए समर्पित है और मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंदू धर्म की बुनियाद है।

इस बीच, जो लोग मुझपर भरोसा नहीं रखते, उनसे मैं अनुरोध करूंगा कि वे अभी-अभी आरम्भ होनेवाले इस संघर्ष के रास्ते में इस भ्रम

को फैलाकर कि मैं हिंसा चाहता हूं, लोगों को हिंसा के लिए न भड़कावें। अहिंसात्मक असहयोग को वे एक वार आजमाकर तो देखें और उन्हें पता चल जायगा कि मेरे मन में किसी प्रकार का छिपाव-दुराव नहीं है।

यंग इंडिया
११ अगस्त, १९२०

: ७ :

तलवार का सिद्धान्त–२

मुझे सलाह देनेवालों की कमी नहीं है। वे मुझे अपने नाम से और विना नाम से पत्र भेजते रहते हैं और कुछ लोग सलाह देने के लिए स्वयं मेरे पास आते हैं। कुछ मुझे लिखते हैं कि मैं कायर हूं, तलवार से डरता हूं और इसलिए इस दुनियां में मैं कुछ नहीं कर सकता। वे यह भी लिखते हैं कि मैं डरकर, विना यह जाने कि अहिंसा का क्या मतलव होता है, उसकी वात करता रहता हूं। कुछ दूसरे लोग मुझसे कहते हैं कि मेरे दिल में काफ़ी हिंसा भरी हुई है और मैं मारने को पसन्द करता हूं, लेकिन मैं इतना 'चतुर' और 'चालाक' हूं कि मैं लोगों को यह पता ही नहीं चलने देता कि मैं क्या सोचता हूं और अहिंसा की चर्चा करते हुए दिल से हिंसा को वढ़ावा देता हूं। इनके अलावा लोगों का एक ऐसा भी वर्ग है, जो यह सोचता है कि मैं 'धूर्त' नहीं हूं, लेकिन मैं अवसर की बाट जोहता हूं और ज्योंही अवसर आयेगा, मैं लोगों को तलवार चलाने की सलाह दूंगा। ये लोग मानते हैं कि इसके लिए समय आ गया है और मुझे अव और प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

सामान्यतया इन सलाहकारों की वातों का जवाब देने में समय लगाना मेरे लिए ज़रूरी नहीं होना चाहिए। यदि कुछ लोग मुझे 'चालाक' समझते हैं तो इसमें हानि क्या है और उसकी मुझे चिन्ता क्यों होनी चाहिए? इसके अलावा मुझे अपनी साधुता के वचाव या चालाकी के अभियोग का खण्डन करने के लिए 'नवजीवन' के पाठकों का समय लेने का क्या अधिकार है? निश्चय ही मुझे इस मामले में अपने वचाव की दृष्टि से विवाद में नहीं

पड़ना चाहिए, लेकिन मैं जानता हूं कि आजकल मेरी जो स्थिति है, उसमें सामान्यतः लोग मेरे विचारों को जानने के लिए उत्सुक रहते हैं और मैं यह भी जानता हूं कि मैं जो सोचता हूं उसीके अनुसार काम करता हूं। इन सबकी खातिर मैं अपनी स्थिति को साफ़ कर देना आवश्यक मानता हूं और इसलिए मैं पाठकों के सामने एक वार फिर पशुवल के सम्वन्ध में अपने विचारों को रखने की स्वतंत्रता लेता हूं।

तलवार का वल पशुवल है। हिंसा करने में वुद्धि के कौशल की आवश्यकता नहीं है। वुद्धि को ग़लत दिशा में ले जाकर हम निःसन्देह पशुवल के लिए हिंसा का उपयोग कर सकते हैं, लेकिन वुद्धि का सहारा होते हुए भी पशुवल पशुवल ही रहता है। पशु में आत्मा मूढ़ावस्था में रहती है और पशु को आत्मज्ञान नहीं होता। यही कारण है कि हम पशु-जगत को अज्ञान से ढंका हुआ पाते हैं। खाने-पीने, सोने, डरने इत्यादि की क्रियाएं मनुष्य और पशु दोनों में समान होती हैं, लेकिन मनुष्य में भले और वुरे के वीच अन्तर करने की शक्ति होती है और वह अपनी आत्मा को भी पहचान सकता है। एक पशु दूसरे पशु को केवल अपने शारीरिक वल से दवा लेता है। उसकी दुनिया इसी सिद्धान्त पर चलती है, लेकिन मनुष्य की दुनिया में ऐसा नहीं होता। मनुष्य के स्वभाव से सवसे अधिक मेल खानेवाला सिद्धान्त यह है कि वह अपने प्रेम की शक्ति, आत्मा की शक्ति से दूसरों को जीते। इसलिए जव एक आदमी प्रेम से दुश्मन को वश में करता है, तो वह अपने नियम के अधीन होकर ही आचरण करता है। ऐसा करने में वह देवता नहीं वन जाता। देवताओं के शरीर नहीं होता। वे कभी पशु के समान आचरण करते हैं और और कभी मनुष्य के समान। देवताओं में सुर भी होते हैं और असुर भी। कभी-कभी मनुष्य पशुओं की भांति व्यवहार करता दिखाई देता है। उसमें पशुवल भी होता है और जवतक वह अपने आत्मिक स्वरूप की चेतना विकसित नहीं कर लेता तवतक वह वुद्धिमान पशु ही रहता है। मनुष्य का शरीर धारण करने पर भी वह मानवीय नियमों का अनुसरण करने के बजाय पशु के नियमों पर चलता है। फिर

भी इसे उसका सच्चा स्वरूप नहीं मानना चाहिए। इसलिए मेरा विश्वास है कि जिस घड़ी हम अपने वास्तविक स्वरूप की चेतना के प्रति सजग हो उठेंगे, उसी घड़ी जंगल के सिद्धान्त का भी त्याग कर देंगे।

लेकिन सन्तों ने देखा कि अधिकांश व्यक्तियों के मनुष्य का शरीर होते हुए भी उनकी वासनाएं समाप्त नहीं हुई हैं, इसलिए वे मानते हैं कि मनुष्यों द्वारा भी पशुबल के लिए अवकाश है और उन्होंने बताया है कि किन परिस्थितियों में उसका उपयोग किया जा सकता है।

जब एक मनुष्य भय के कारण दूसरे के सामने झुकता है, तो वह अपने स्वभाव के अनुसार आचरण नहीं करता, बल्कि पशुबल के अधीन रहता है। जो पशुबल से दूसरों पर शासन करने की इच्छा नहीं रखता, वह स्वयं ऐसे बल के आगे अपनेको नहीं झुकने देगा। इसलिए यह मानकर कि पशुबल से डरनेवाले मनुष्य ने आत्मज्ञान नहीं प्राप्त किया है, हमारे शास्त्रों ने उसे उस समय तक पशुबल के उपयोग की अनुमति दी है, जबतक वह इस अवस्था में रहता है।

सन् १८०८ में एक पठान ने मुझ पर घातक प्रहार किया। मेरा सबसे बड़ा लड़का उस समय वहां मौजूद नहीं था। उसमें शारीरिक बल काफ़ी है। मैंने पठान पर मुकदमा नहीं चलने दिया, क्योंकि उस समय भी मैं वही विचार रखता था, जो अब रखता हूं। मैं अपने लड़कों को भी क्षमा और प्रेम की शिक्षा दे रहा था और इसलिए हमले के बाद जब हम पहली बार मिले, तो मेरे लड़के ने मुझसे पूछा, मैं यह जानना चाहता हूं कि यदि उस समय मैं आपके पास होता तो मेरा कर्तव्य क्या होता? आपने हमें सिखाया है कि यदि कोई आदमी हमको मारे तो बदले में हमें उसको नहीं मारना चाहिए और न चुपचाप दूसरे आदमी के सामने सिर झुका देना चाहिए। मैं इस सिद्धान्त को जानता हूं, लेकिन मुझ में इतनी शक्ति नहीं है कि उसपर आचरण कर सकूं। जब आपको भयंकर रूप से पीटा जा रहा था, तो मैं खामोशी से उसे नहीं देख सकता था। मगर आप पर हमला हो, तो मैं आपकी रक्षा करना अपना कर्तव्य मानता हूं, लेकिन बचाव

में दूसरे पर हमला करने की बजाय मैं अपने प्राण देकर ऐसा नहीं कर सकता, इसलिए जो आपपर प्रहार करता है, उसपर हमला करके या तो मुझे आपकी रक्षा करनी चाहिए या आपपर होते हमले को चुपचाप देखते रहना चाहिए या भाग जाना चाहिए। मैंने उससे कहा, "अगर तुम भाग जाओ या मुझे बचाने के लिए कुछ न करो, तो वह कायरता की निशानी होगी। अगर तुम अपनेको संकट में डालकर मेरी रक्षा नहीं कर सकते तो तुम्हें निश्चय ही दूसरे आदमी पर हमला करके मेरी रक्षा करनी चाहिए। कायरता दिखाने की अपेक्षा पशुबल का प्रयोग करना कहीं अच्छा है।"

आज भी मेरी यही दृष्टि है। हिन्दुस्तान के लिए बेहतर है कि वह शस्त्र धारण करे और डर से हथियारों के त्याग करने की अपेक्षा संकट का सामना करे। यही कारण था कि पिछले युद्ध के दौरान मैंने इंग्लैंड और हिन्दुस्तान में भी अपनी सहायता दी। मैं स्वयंसेवक भर्ती करने के काम में जुट गया।

क्षमा वीर का भूषण है। जो गलती का बदला लेने की क्षमता रखता है वही प्रेम और क्षमा करना जानता है। जो विषयों में आनन्द लेने की शक्ति रखता है, वही अपनी इच्छाओं पर काबू रखकर ब्रह्मचारी की योग्यता प्राप्त कर सकता है। चूहे के बिल्ली की क्षमा करने का प्रश्न नहीं उठता। हिन्दुस्तान में लड़ने की शक्ति हो और वह लड़ने से इन्कार कर दे तभी वह उसके आत्मबल का सूचक होगा।

यह समझना आवश्यक है कि लड़ने की शक्ति का इस संदर्भ में क्या मतलब है। उसका मतलब केवल शारीरिक बल नहीं है। जिसमें साहस है, उसमें लड़ने की ताक़त है और जिसने मृत्यु का भय त्याग दिया है, उसमें इस प्रकार का बल है। मैंने हट्टे-कट्टे हब्शियों को गोरे लड़कों के सामने कांपते देखा है, क्योंकि वह गोरों के रिवाल्वरों से डरते थे। मैंने दुर्बल-से-दुर्बल व्यक्तियों को सबल व्यक्तियों से जूझते हुए भी देखा है। अतः यदि

हिन्दुस्तान भय को तिलांजलि दे दे, तो हम यह कह सकेंगे कि उसमें लड़ने की शक्ति है। ऐसा मानना बिल्कुल गलत है कि लड़ने के योग्य बनाने के लिए हथियार चलाने की क्षमता प्राप्त करना आवश्यक है। इसलिए जिस घड़ी मनुष्य आत्मा की शक्ति के प्रति सजग हो उठता है, उसी क्षण वह यह जान जाता है कि उसके अन्दर लड़ने की ताकत है। इसी कारण मैं विश्वास करता हूं कि वही व्यक्ति सच्चा योद्धा है, जो दूसरों को मारते हुए नहीं मरता, बल्कि जिसने मरकर जीने के मंत्र को साध लिया है।

जिन सन्तों ने अहिंसा के अचूक सिद्धान्त को खोज लिया था, वे स्वयं भी महान योद्धा थे। जब उन्होंने हथियारों की शक्ति की तुच्छता और मनुष्य के सच्चे स्वभाव को जान लिया, तो वे हिंसा से व्याप्त दुनिया में अहिंसा के सिद्धान्त को पहचान सके। उन्होंने तब हमें सिखाया कि आत्मा सारे संसार को जीत सकती है और आत्मा को सबसे बड़ा खतरा अपने अन्दर से है। उन्होंने यह भी सिखाया कि आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेने से हमें सारे संसार को जीतने की शक्ति मिलती है।

लेकिन उन्होंने न यह सोचा, न यह दृढ़ता से कहा, न कहीं सिखाया कि चूंकि उन्होंने उस सिद्धान्त को खोज लिया है, इसलिए वे ही उसके अनुसार आचरण कर सकते हैं। इसके विपरीत, उन्होंने घोषणा की कि एक बच्चे के लिए भी यही सिद्धान्त है और वह भी उसका पालन कर सकता है। यह कहना सत्य नहीं है कि केवल संन्यासी ही इस पर आचरण करते हैं। हम भी थोड़े-बहुत रूप में इसका पालन करते हैं और जिस सिद्धान्त का अनुसरण आंशिक रूप में किया जा सकता है, उसका पालन पूरी तरह से भी हो सकता है।

मैं इसी सिद्धान्त के अनुसार रहने का प्रयत्न कर रहा हूं। पिछले बहुत-से वर्षों में मैं विवेकपूर्वक ऐसा प्रयत्न कर रहा हूं और हिन्दुस्तान के लोगों से भी ऐसा ही करने के लिए ज़ोर देकर कह रहा हूं।

मैं अपनेको आदर्शवादी मानता हूं और व्यावहारिक भी। मैं नहीं

समझता कि यदि कोई मनुष्य जान-बूझकर और किसी मतलब से ऐसा करता है तो उसने इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण कर लिया। इसलिए जिस प्रकार एक वैद्य अपनी दवा देता है, उसी प्रकार मैं इस सिद्धान्त को सबके सामने रखता हूं, भले ही उनका इसमें विश्वास हो या न हो। यह सिद्ध करने के लिए कि इस सिद्धान्त के महत्व को समझने की योग्यता प्राप्त करने के हेतु ऊंची शिक्षा की आवश्यकता नहीं है, मैं उन व्यक्तियों से सहयोग कर रहा हूं जो मुझसे विपरीत विचार रखते हैं। मेरे मित्र शौक़त अली अहिंसा को यह मानकर सबसे अधिक महत्व देते जान पड़ते हैं कि अपने दुश्मन को मारना मनुष्य का धर्म है। फलतः वह अपने हृदय में घृणा रख कर अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करते हैं। वह समझते हैं कि असहयोग कमज़ोर का हथियार है और इसलिए शारीरिक बल से मुक़ाबला करने की अपेक्षा हीन है। ऐसा होते हुए भी वह मेरे साथ आ मिले हैं, क्यों-कि उन्होंने देख लिया है कि असहयोग को छोड़कर उनके विश्वास की रक्षा करने का और कोई सक्रिय उपाय नहीं हो सकता।

जिनका मुझमें विश्वास नहीं है, उनसे भी मैं अनुरोध करता हूं कि वे मेरे मित्र शौक़त अली का अनुसरण करें। उन्हें मेरे उद्देश्य की शुद्धता में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन उन्हें साफ़ तौर से यह जान लेना चाहिए कि असहयोग और हिंसा साथ-साथ नहीं चल सकते। पूर्णरूप से असहयोग आरम्भ करने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि कहीं हिंसा न फूट पड़े। जो हथियारों से लैस हैं या वैसा होने के लिए उत्सुक हैं उनको जबतक असहयोग चलता है, तबतक अपने हथियारों को एक ओर रख देना चाहिए। जिस दिन पशुबल को हिन्दुस्तान में प्रधानता दी जाने लगेगी, उस दिन मेरे लिए पूर्व और पश्चिम पुरातन और आधुनिक की सारी विशेषताएं नष्ट हो जायंगी। वह दिन मेरी कसौटी का दिन होगा। मैं हिन्दुस्तान को अपना देश मान कर गर्व अनुभव करता हूं, क्योंकि मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान सारे संसार के आगे यह सिद्ध करने की क्षमता रखता है कि आत्मिक बल सबसे श्रेष्ठ है। जब हिन्दुस्तान पशुबल

की महत्ता को स्वीकार कर लेगा, तो फिर मुझे उसे अपनी मातृभूमि कहने में हर्ष नहीं होगा। मेरा विश्वास है कि मेरा धर्म किसी क्षेत्र अथवा भौगोलिक सीमा से बंधा हुआ नहीं है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह मुझे यह सिद्ध करने की शक्ति दे कि मेरा धर्म मेरे शरीर का विचार नहीं करता और न वह किसी विशेष क्षेत्र तक ही सीमित है।

नवजीवन (गुजराती)
१५ अगस्त, १९२०

: ८ :

युद्ध या शान्ति

मैंने विश्व-युद्ध के सम्बन्ध में मिस्टर पेज के बहुत ही बढ़िया पाम्फ़लेट के मुख्य अंशों को उद्धृत किया, तो यह निरुद्देश्य नहीं था। मुझे विश्वास है कि पाठकों ने उन्हें सावधानी तथा ध्यान से समझा होगा। मि० पेज ने निश्चयात्मक रूप से सिद्ध किया है कि दोनों ही पक्ष समान दोषी थे और दोनों ने ही वहशी तथा अमानवीय तरीकों का सहारा लिया। हमें यह जानने के लिए मि० पेज की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है कि इतिहास में जितने युद्धों का उल्लेख है, उनमें से किसीमें भी इतनी जानें नहीं गईं, जितनी इस युद्ध में गईं। नैतिक हानि तो और भी अधिक थी। आत्मा का हनन करने वाली विषैली शक्तियां, झूठ और फरेब, उतनी ही चरम सीमा पर पहुंचाई गईं, जितनी कि शरीर का नाश करनेवाली शक्तियां। नैतिक परिणाम उतने ही भयंकर हैं, जितने भौतिक। युद्ध द्वारा यौन-सम्बन्धी नैतिकता के ह्रास का मानव जाति पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसका लेखा-जोखा अभी इतनी जल्दी नहीं लिया जा सकता। बुराई ने अच्छाई के सिंहासन को हड़प लिया है। मनुष्य के अंदर की पाशविकता ने कुछ समय के लिए अपना सिक्का जमा लिया है।

बाद में होनेवाले परिणाम शायद वास्तविक तथा तात्कालिक परिणामों की अपेक्षा अधिक भयंकर होते हैं। यूरोप के किसी भी राज्य में सरकार का स्थायित्व नहीं है। कोई भी वर्ग अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। हर कोई उसे दूसरों की कीमत पर सुधारना चाहता है। राज्यों के बीच का युद्ध अब प्रत्येक राज्य के अन्दर का युद्ध बन गया है।

भारत को अपना चुनाव करना है। यदि वह चाहता है, तो युद्ध के रास्ते को आजमा सकता है और अबतक जितनी निचाई पर पहुंचा है, उससे और निचाई पर जा सकता है। हिन्दू-मुस्लिम झगड़े के द्वारा वह युद्ध की कला का पहला पाठ पढ़ता दिखाई देता है। यदि युद्ध करके भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त करने की सम्भावना हो सकती है, तो उसकी स्थिति फ्रांस या इंग्लैण्ड से अच्छी नहीं होगी, शायद उनसे खराव ही होगी। बीते जमाने की मिसालें अब पुरानी पड़ गई हैं। जापान तक की तुलनात्मक प्रगति मार्ग नहीं दिखा सकती, क्योंकि रूसी जापानी-युद्ध के बाद युद्ध-विज्ञान ने बड़ी प्रगति की है। यूरोप की वर्तमान स्थिति में उसके परिणाम का अध्ययन किया जा सकता है। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि यदि भारत ने युद्ध करके ब्रिटिश जुए को उतार फेंका, तो जिस स्थिति का मि० पेज ने स्पष्टता से उल्लेख किया है, उसी स्थिति से भारत को गुजरना होगा।

लेकिन शान्ति का रास्ता उसके लिए खुला है। यदि उसमें धीरज है तो उसकी स्वतन्त्रता निश्चित है। वह रास्ता सबसे छोटा निकलेगा, भले ही वह हमारे उतावले स्वभाव को सबसे लम्बा क्यों न जान पड़े। शान्ति के रास्ते से आन्तरिक विकास और सुरक्षा पक्की हो जाती है। हम उसे अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि हम सोचते हैं कि उसमें उस शासक की इच्छा के आगे झुकना निहित है, जिसने अपने को हम पर लाद दिया है। लेकिन जिस घड़ी हमें यह पता चलता है कि उनका लादना तो केवल तथाकथित है और जान या माल की क्षति उठाने की हमारी रजामन्दी न होने से हम उस लादने में भागीदार हैं, तब हमें जो चाहिए वह यह है कि निष्क्रिय समर्थन के निषेधात्मक स्वभाव को हम बदलें। युद्ध के रास्ते को आजमाने में हमारा जो भौतिक पीड़न और नैतिक हानि होगी, उसकी तुलना में इस परिवर्तन से होनेवाली पीड़ा कुछ भी नहीं है। और युद्ध की पीड़ाओं से दोनों पक्षों की हानि होती है। शान्ति के रास्ते को अपनाने से जो कठिनाइयां आती हैं, उनसे दोनों को लाभ होता है। वे नये जन्म की आनन्ददायक पीड़ा के समान होती हैं।

सन १९२०-२१ की घटनाओं को सर्वसामान्य पर लागू करने की जल्दी से हम धोखे में न पड़ें। उस शानदार जमाने की उपलब्धि कितनी ही महान क्यों न हो, वह उस उपलब्धि की तुलना में कुछ भी नहीं थी, जो हमें सच्चे और निष्ठावान वने रहकर प्राप्त हुई होती। हममें से वहुतों के सीनों में हिंसा भरी हुई थी, जवकि अपने होठों से अहिंसा के गीत गा रहे थे। और हालांकि हम इस प्रकार अपने विश्वास के प्रति, जिस हद तक हमने उसे स्वीकार कर लिया था, झूठे थे, हम अपनेको दोष देने और सुधारने की जगह उसे दोषी ठहराते थे और निष्ठा खो वैठे थे। चौरीचौरा वीमारी का लक्षण था, जो हममें विष भर रही थी। हमारा तरीका शान्ति और अहिंसा का तरीका माना जाता था। इस दावे पर हम पूरी तरह कायम नहीं रह सके। दुश्मन के तानों की हम चिन्ता न करें। वे तो जहां हिंसा का लेश भी नहीं होता था, वहां भी हिंसा देखते थे। लेकिन हम अन्तर की आवाज के निर्णय की अवहेलना नहीं कर सकते। वह जानती थी कि हमारे अन्दर हिंसा है।

शान्ति का मार्ग सत्य का मार्ग है। सत्यवादिता शान्तिवादिता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में झूठ वोलना हिंसा की जननी है। सत्यवादी मनुष्य अधिक समय तक हिंसक नहीं रह सकता। अपनी खोज के दौरान वह देखेगा कि उसे हिंसक होने की आवश्यकता नहीं है और उसे यह भी पता चलेगा कि जवतक उसके अन्दर हिंसा का लेश भी विद्यमान है, वह उस सत्य को पाने में असफल रहेगा, जिसके लिए वह खोज कर रहा है।

सत्य और अहिंसा तथा असत्य और हिंसा, इनके वीच मध्यम मार्ग नहीं है। हम भले हीं कभी इतने मजवूत न हों कि मन, वचन और कर्म में पूरी तरह अहिंसा का पालन करें, लेकिन अहिंसा को हमें अपना लक्ष्य वनाकर रखना चाहिए और उसकी ओर लगातार वढ़ना चाहिए। स्वतन्त्रता की उपलब्धि, भले ही वह मनुष्य के लिए हो, राष्ट्र के लिए हो अथवा संसार के लिए, ठीक उसी अनुपात में होनी चाहिए, जिस अनुपात में प्रत्येक के

द्वारा अहिंसा की उपलब्धि हो। इसलिए जिनका विश्वास हो कि वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एकमात्र तरीका अहिंसा है, उन्हें वर्तमान अभेद्य अन्धकार के बीच अहिंसा की मशाल को प्रज्वलित रखना चाहिए। थोड़ों का सत्य अपना महत्त्व रक्खेगा, करोड़ों का असत्य वैसे ही उड़ जायगा, जैसे हवा के आगे तिनका।

बोअर-युद्ध तथा बाद में सन १९१४ के महायुद्ध में भाग लेने के लिए मेरी तीव्र आलोचना हुई है और मुझसे कहा गया है कि अहिंसा के प्रकाश में मैं अपने आचरण की सफाई दूं। मैंने इन पृष्ठों में एक से अधिक बार सफाई देने का प्रयत्न किया है।

केवल अहिंसा की कसौटी पर कसने से मेरे आचरण का बचाव नहीं किया जा सकता। मैं विनाश के अस्त्रों का उपयोग करनेवालों तथा घायलों की सेवा करनेवालों के बीच कोई अन्तर नहीं करता। दोनों ही लड़ाई में शामिल होते हैं और उसके ध्येय को बढ़ावा देते हैं। दोनों ही युद्ध के दोष के दोषी हैं। लेकिन इतने वर्षों तक आत्म-निरीक्षण करने के बाद भी मुझे लगता है कि मैं जिस परिस्थिति में था, उसमें मेरे लिए वही करना अनिवार्य था, जो मैंने बोअर-युद्ध तथा यूरोपियन महायुद्ध में और उस दृष्टि से सन १९०६ में नेटाल के तथाकथित जुलू-विद्रोह के समय किया।

जीवन का संचालन अनेक शक्तियों द्वारा होता है। यदि कोई ऐसा सर्वसामान्य नियम होता, जिसका प्रयोग करते ही प्रत्येक प्रसंग में कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने के लिए क्षण-भर भी सोचना न पड़ता तो क्या ही सरलता होती। लेकिन मैं ऐसे एक भी प्रसंग का स्मरण नहीं कर सकता, जिसका निश्चय इतनी आसानी से किया जाए सके।

मैं युद्ध का पक्का विरोधी हूं इसलिए मैंने अवसर मिलने पर भी कभी संहारक अस्त्रों का प्रयोग करना नहीं सीखा। शायद इसीलिए मैं सीधा नर-संहार से बच गया। मगर जबतक मैं पशु-बल पर आधारित सरकार

के अधीन रहा और उसके द्वारा मेरे लिए की गई बहुत-सी सुविधाओं और अधिकारों का स्वेच्छा से उपयोग करता रहा, तबतक मेरे लिए आवश्यक था कि उसके लड़ाई में संलग्न होने पर मैं अपनी क्षमता के अनुसार उसकी सहायता करूं। यदि मैं उस सरकार से असहयोग कर लूं और उसके द्वारा मुझे दिए गये अधिकारों का अधिक-से-अधिक त्याग कर दूं तो वैसा करना आवश्यक न रहता।

फिर भी मैंने युद्ध के कार्यों में भाग लिया। जिस समाज का मैं सदस्य हूं, उससे सम्बन्ध तोड़ना मेरे लिए पागलपन होता और उन तीनों अवसरों पर ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने का मेरा विचार नहीं था। आज उस सरकार के सम्बन्ध में मेरी स्थिति एकदम बदल गई है और इसलिए स्वेच्छा से उसके युद्धों में मुझे शामिल नहीं होना चाहिए। यदि मुझे हथियार उठाने या और किसी तरह से सैनिक कार्रवाही में भाग लेने के लिए बाध्य किया जाय, तब भी जेल और यहाँतक कि फांसी का खतरा उठाकर भी मुझे शामिल नहीं होना चाहिए।

लेकिन इससे अब भी प्रश्न हल नहीं होता। यदि यहां राष्ट्रीय सरकार होती तो मैं भले ही किसी युद्ध में सीधा सम्मिलित न होता, फिर भी मैं ऐसे अवसरों की कल्पना कर सकता हूं जबकि सैनिक शिक्षण लेने के इच्छुक व्यक्तियों को शिक्षण देने का समर्थन करना मेरा कर्तव्य होगा, क्योंकि मैं जानता हूं कि जिस हद तक अहिंसा में मेरा विश्वास है, उस हद तक राष्ट्र के सभी लोग विश्वास नहीं रखते। किसी व्यक्ति या समाज को दबाव डालकर अहिंसक नहीं बनाया जा सकता।

अहिंसा अत्यन्त गूढ़ रूप में काम करती है। कभी-कभी अहिंसा की दृष्टि से मनुष्य के कार्य की व्याख्या नहीं हो पाती। उसी प्रकार कभी-कभी उनका काम हिंसा जैसा लग सकता है, जबकि वह अहिंसा के व्यापक-से-व्यापक अर्थ में भी पूरी तरह अहिंसक होता है और बाद में वह वैसा पाया भी जाता है। ऐसी दशा में उपर्युक्त अवसरों पर मैं अपने आचरण के बारे में इतना ही दावा कर सकता हूँ कि वह अहिंसा के हितों से प्रेरित था।

उसके पीछे किसी बुरे राष्ट्रीय अथवा दूसरे स्वार्थ का विचार नहीं था। मैं यह नहीं मानता कि किसी हित का बलिदान देकर राष्ट्रीय अथवा किसी दूसरे हित का पोषण किया जाय।

यंग इंडिया
२० मई, १९२६;
१३ सितम्बर, १९२८

: ९ :

युद्ध : एक गूढ़ समस्या

युद्ध के सम्बन्ध में मेरे भाव को लेकर रेवरेंड वी० डे लिग्ट ने मेरे नाम अपने गश्तीपत्र में जो सवाल उठाया है, उसे विचार के लिए हाथ में लेते समय मेरा मन आश्वस्त नहीं है। मैं जिस कठिन परिस्थिति में अपनेको पा रहा हूं उसमें से निकलने का आसान रास्ता है और वह यह कि गलत समझे जाने का खतरा उठाकर भी खामोश रहना। यह कह देना और भी आसान होगा कि पत्र में उल्लिखित अवसरों पर युद्ध में भाग लेकर मैंने भूल की। लेकिन अत्यन्त मैत्रीपूर्ण ढंग पर पूछे गये सवालों का उत्तर न देना अमैत्रीपूर्ण होगा और जब मैं पश्चात्ताप अनुभव नहीं करता तो मुझे उसका दिखावा नहीं करना चाहिए। प्रश्न पर चर्चा को बचाने की मेरी चिन्ता इसलिए नहीं है कि मेरे अन्दर विश्वास का अभाव है, बल्कि इस भय के कारण है कि मैं अपने आशय को स्पष्ट नहीं कर पाऊंगा और उससे मैं युद्ध के विषय में अपने दृष्टिकोण को लेकर ऐसी छाप डालूंगा, जो मैं नहीं डालना चाहता। मैंने प्रायः देखा है कि मेरी कुछ बुनियादी भावनाओं की अभिव्यक्ति में भाषा बड़ी रंक वाहक रही है। इसलिए मैं मिस्टर वी० डे लिग्ट तथा दूसरे युद्ध-प्रतिरोधियों से अनुरोध करूंगा कि वे मेरे लड़खड़ाते अथवा अपूर्ण तर्क की परवा न करें और उससे भी कम परवा करें मेरे युद्ध में शामिल होने की। युद्ध के सम्बन्ध में मेरे कथन के साथ समझौता करना उनके लिए शायद ही सम्भव हो। उन्हें समझ लेना चाहिए कि मैं युद्ध मात्र का पक्का विरोधी हूं। यदि वे मेरे तर्क को गले नहीं उतार सकते तो वे कह सकते हैं कि युद्ध में मेरा सम्मिलित होना मेरी

अचेतन दुर्बलता के कारण है, क्योंकि मुझे यह जानकर बड़ा दुःख होगा कि कुछ परिस्थितियों में युद्ध का समर्थन करने के लिए किसीने मेरे कदम का सहारा लिया।

इतना कहने के बाद मुझे उस स्थिति पर आरूढ़ रहना चाहिए, जिसे लेख में प्रतिपादित किया गया है और जो मिस्टर बी० डे लिग्ट के पत्र की विषय-वस्तु है। यूरोपियन युद्ध के प्रतिरोधियों को उनके और मेरे बीच के एक महत्वपूर्ण अन्तर को समझ लेना चाहिए। वे शोषित राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। मैं संसार के सबसे अधिक शोषित राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता हूं। स्पष्ट तुलना करते हुए कहा जा सकता है कि वे बिल्ली का प्रतिनिधित्व करते हैं, मैं चूहे का। क्या चूहे में अहिंसा की भावना भी होती है? युद्ध के क्षेत्र में अहिंसा के गुण, गरिमा और प्रभुत्व की कद्र करना सीखने से पहले क्या मनुष्य की यह बुनियादी आवश्यकता नहीं है कि वह सफलता-पूर्वक हिंसा से मुकाबला करने का प्रयत्न करे? क्या चूहे जैसी कौम के प्रतिनिधि के रूप में मेरे लिए जरूरी नहीं है कि मैं अपने मुखिया को असंहार की महत्ता सिखाने के उद्देश्य से भी उसके संहार करने की इच्छा में भागीदार बनूं?

यहां बिल्ली और चूहे का सादृश्य समाप्त हो जाता है। चूहे में अपने स्वभाव को बदलने की क्षमता नहीं है। लेकिन मनुष्य में, भले ही वह कितना ही बुरा और पतित क्यों न हो, ऊंचाई के उस चरम शिखर तक पहुंचने की क्षमता है, जिस तक किसी भी जाति या वर्ण का कोई भी व्यक्ति पहुंच सकता है। इसलिए मुझे अपने देशवासियों की युद्ध की तैयारी की आवश्यकता की पूर्त्ति में बहुत दूर तक साथ देते हुए भी, पूरी आशा रखकर ऐसा करना चाहिए कि वे इससे युद्ध से दूर हटेंगे और एक दिन युद्ध की नितान्त असारता को देखेंगे। याद रहे कि इतिहास में अबतक विराट अहिंसा के कितने ही प्रयोग हुए हैं, उनमें सबसे बड़ा प्रयोग मैं आजमा रहा हूं, भले ही मैं युद्ध के उद्देश्य में सहायक क्यों न दिखाई देता होऊं। कुशलता के अभाव में प्रयोग असफल हो सकता है, लेकिन यूरोप के युद्ध-

प्रतिरोधक को पूरी तरह से उस चमत्कार को समझना और गले उतारना चाहिए, जो भारत में उसके सामने उस व्यक्ति द्वारा हो रहा है, जो अहिंसा का साहसपूर्ण प्रयोग करने में प्रयत्नशील है, साथ ही उन व्यक्तियों से भी साठगांठ रख रहा है, जो युद्ध की तैयारी करेंगे।

अपने तर्क को मुझे और आगे बढ़ाना चाहिए। सर्वोत्तम रूप में, भाषा मनुष्य के विचारों को पूरी तरह व्यक्त करने में अक्षम होती है। मेरे लिए अहिंसा कोरा दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है, वह मेरे जीवन का नियम और सांस है। मैं जानता हूं कि कभी-कभी जानकर और अधिकांशतः अनजान में मैं प्रायः असफल होता हूं। यह बुद्धि का नहीं, हृदय का मामला है। भगवान पर सतत भरोसा रखने, अत्यन्त विनयशील होने, आत्म-निषेध करने और हर घड़ी आत्य-त्याग की तैयारी रखने से—सच्चा मार्ग-दर्शन मिलता है। इसकी साधना में सबसे ऊंचे दर्जे की निर्भीकता और साहस की आवश्यकता होती है। मैं अपनी कमियों को जानता हूं और मुझे उनके लिए दुख है।

लेकिन मेरे अन्दर प्रकाश बराबर और स्पष्ट विद्यमान है। इसमें से किसीके लिए भी सत्य और अहिंसा के अतिरिक्त उद्धार का कोई रास्ता नहीं है। मैं जानता हूं, युद्ध गलत है, न मिटनेवाली बुराई है। मैं यह भी जानता हूं कि युद्ध को एक दिन बन्द होना ही है। मेरा पक्का विश्वास है कि रक्तपात या धोखे से प्राप्त स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता नहीं है। इसकी अपेक्षा कि मेरे किसी काम से अहिंसा का सिद्धान्त ही गलत समझा जाय या किसी भी रूप में मैं हिंसा या असत्य का हामी माना जाऊं, यही हजार गुना अच्छा है कि मेरे विरुद्ध लगाये गये सभी आरोप अरक्षणीय, असमर्थनीय समझे जायें। इस संसार का हिंसा और असत्य नहीं, बल्कि अहिंसा और सत्य नियम है।

यदि मैं चाहता हूं कि मेरे देशवासी अहिंसा को अंगीकार करें तो अहिंसा की योजना के अंग के रूप में मुझे उनकी भावनाओं में हिस्सेदार होना चाहिए। यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि भारत, जिसमें

पढ़ा-लिखा राजनीतिज्ञ भी शामिल है, अवश्य ही यह विश्वास करता है कि मात्र अहिंसा शताब्दियों की गुलामी से जनता को मुक्त कर सकेगी। सच है कि सब लोगों ने अहिंसा के तर्क-युक्त परिणामों को नहीं समझा, समझ भी कौन सकता है? मेरी इस शेखी के बावजूद कि मैं सत्य और अहिंसा को जानता हूं और उसपर अमल करने की भरसक कोशिश करता हूं, मैं प्रायः इस सिद्धान्त के युक्ति-युक्त परिणामों पर अमल करने में असफल रहता हूं। मनुष्य के हृदय में प्रकृति की प्रक्रियाओं की गति रहस्यमय है और यह व्याख्या करने में बाधक होती है।

मैं यह जानता हूं कि यदि भारत को प्रकट रूप में अहिंसा द्वारा समर्थ बनना है तो उसका मतलब यह होगा कि भारत विशाल सेना, उतनी ही बड़ी नौसेना और उससे बड़ी वायु-शक्ति कभी नहीं रखना चाहेगा। अगर उसकी आत्म-चेतना इतनी ऊँचाई तक उठती है, जितनी कि उसे स्वतन्त्रता की उसकी लड़ाई में अहिंसात्मक विजय के लिए आवश्यक है तो संसार के मूल्यों में परिवर्तन हो जायगा और युद्ध के अधिकांश उपकरण व्यर्थ माने जायंगे। ऐसे भारत की कल्पना केवल स्वप्न, बचकानी मूर्खता, हो सकती है, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि मेरी राय में अहिंसा के द्वारा स्वतन्त्र होनेवाले भारत का यही फलितार्थ है।

अब इस प्रकार की स्वतन्त्रता आयगी, यदि वह कभी आई तो, ग्रेट ब्रिटेन के साथ भद्र समझौते के द्वारा आयगी। लेकिन तब वह विश्व में प्रभुत्व के लिए चाल चलनेवाला साम्राज्यवादी उग्र ब्रिटेन नहीं होगा, बल्कि नम्रता-पूर्वक, उस सामान्य जन की सेवा के लिए प्रयत्नशील ब्रिटेन होगा, जिसे ब्रिटेन का शोषण करनेवाले युद्धों में विवश बनाकर डाल दिया गया है, लेकिन यह एक शक्तिशाली राष्ट्र का स्वर होगा, जो संसार की सारी हिंसात्मक शक्तियों को नियन्त्रण में रखने के लिए प्रयत्नशील होगा।

मैं पहले ही बता चुका हूं कि पश्चिम के साथी युद्ध-प्रतिरोधी शान्ति के समय में भी युद्ध में भागीदार हैं, क्योंकि वे उसकी तैयारी के लिए, जो

हो रही है, पैसा देते हैं तथा दूसरे रूप में उस सरकार को बनाये रखते हैं, जिसका मुख्य धंधा उस प्रकार की तैयारी करना है। फिर जबतक युद्ध के कारण नहीं समझे जाते और कठोरता से उनका निराकरण नहीं किया जाता तबतक युद्ध को रोकने के सारे प्रयत्न विफल सिद्ध होंगे। क्या आधुनिक युद्धों का प्रमुख कारण संसार में तथाकथित दुर्बल जातियों के शोषण के लिए मनुष्यों की दौड़ नहीं है?

यंग इंडिया
१३ सितम्बर, १९२८
२९ मई, १९२९

: १० :

सत्याग्रह का जन्म

[११ सितम्बर, १९०६ को जोहान्सवर्ग में भारतीयों की जो सार्वजनिक सभा हुई वह दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह के इतिहास में एक स्मरणीय घटना थी। उसका आयोजन सरकार के एशियाई अधिनियम संशोधन अध्यादेश का विरोध करने के लिए किया गया था। इस सभा के प्रस्ताव विशेष रूप से इस वात के लिए उल्लेख-योग्य थे कि उनसे अनुचित कानूनों के विरुद्ध अहिंसक सीधी कार्रवाही का उसके फलितार्थ-सहित श्रीगणेश होता था। चौथे प्रस्ताव में कहा गया था : "यदि विधान परिषद, स्थानीय सरकार तथा सम्राट के अधिकारियों ने एशियाई अधिनियम संशोधन अध्यादेश के सम्वन्ध में ट्रांसवाल के भारतीय समाज की विनम्र प्रार्थना को ठुकरा दिया तो यहां उपस्थित व्रिटिश भारतीयों की यह सार्वजनिक सभा वड़ी गंभीरता तथा दुःख के साथ निश्चय करती है कि उपरोक्त अधिनियम में रखी गई पीड़ाजनक, निर्दय तथा अव्रिटिश आवश्यकताओं के आगे झुकने की अपेक्षा ट्रांसवाल का प्रत्येक व्रिटिश भारतीय जेल का आवाहन करेगा और उस समय तक करता रहेगा, जवतक कि सम्राट राहत न पहुंचाएँ।" गांधीजी ने एक ऐतिहासिक व्याख्यान में इस प्रस्ताव की महत्ता को समझाया। वाद में उन्होंने अपनी पुस्तक 'दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' में उसका सारांश प्रस्तुत किया, जो इस प्रकार है :]

मैं इस सभा को यह समझा देना चाहता हूं कि आजतक हमने जो प्रस्ताव स्वीकार किये हैं और जिस रीति से स्वीकार किये हैं, उनसे इस प्रस्ताव और इसके स्वीकार करने की रीति में भारी अन्तर है। हम वड़ा गंभीर प्रस्ताव कर रहे हैं, क्योंकि दक्षिण अफ़्रीका में हमारा अस्तित्व इस प्रस्ताव पर पूर्णतया अमल करने पर निर्भर करता है। इस प्रस्ताव को तैयार

करने की जो रीति हमारे भाईने सुझाई है, वह जितनी गंभीर है, उतनी ही नवीन है। मैं इस सभा में इस रीति से प्रस्ताव को स्वीकार कराने के विचार से नहीं आया हूं। इसका श्रेय तो सेठ हाजी हवीव[1] को है और इसका दायित्व भी उन्हींपर है। मैं उन्हें मुवारकवाद देता हूं। उनका सुझाव मुझे वहुत ही रुचिकर लगा है, लेकिन यदि आप इसे स्वीकार करते हैं, तो आप भी इस जिम्मेदारी में साझीदार हो जायंगे। यह जिम्मेदारी क्या है, यह आपको समझ लेना चाहिए और समाज के सलाहकार तथा सेवक के नाते उसे पूरी तरह समझा देना मेरा कर्त्तव्य है।

हम सव एक ही सिरजनहार को माननेवाले हैं, भले ही हिन्दू धर्म और इस्लाम उसे किसी भी नाम से पुकारे। उसके नाम पर या उसकी साक्षी में प्रतिज्ञा लेना कोई ऐसी-वैसी वात नहीं है। यदि हम ऐसी शपथ लेकर उससे फिर गये तो दीन और दुनिया के सामने गुनहगार होंगे। निजी तौर पर मैं मानता हूं कि जानवूझकर और विवेक से यदि कोई शपथ लेता है और फिर उसे तोड़ता है, तो वह अपने पौरुष से वंचित हो जाता है और जैसे पारा चढ़ा तांवे का सिक्का न केवल मूल्यहीन हो जाता है, वल्कि पता चलने पर उसका मालिक दण्ड का भागीदार वन जाता है, वैसे ही शपथ लेकर उसे तोड़नेवाले व्यक्ति की कोई कीमत नहीं होती और वह लोक-परलोक दोनों में दण्ड का पात्र होता है। सेठ हाजी हवीव ऐसी ही गंभीर शपथ लेने का प्रस्ताव कर रहे हैं। इस सभा में एक भी आदमी ऐसा नहीं है, जिसे वालक या नासमझ माना जा सके। आप सभी

---

१. हाजी हबीब पोरबन्दर के एक मेमन व्यापारी थे, जो ट्रांसवाल में आ बसे थे। वह दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के निकट के सहयोगी थे और जुलाई-नवम्बर १९०१ में ब्रिटिश सरकार के पास जो भारतीय प्रतिनिधि-मंडल गया था, उसमें वह उनके साथ थे। वास्तव में उस अवसर पर गंभीर शपथ लेने के हबीब के सुझाव के संबंध में ही गांधी जी ने यह भविष्य-वाणी से युक्त भाषण दिया था।

पक्की उम्र के हैं और दुनिया देख चुके हैं। आपमें से वहुतेरे तो प्रतिनिधि हैं और अधिक या कम मात्रा में जिम्मेदारी भी उठा चुके हैं। अतः उपस्थित व्यक्तियों में कोई यह कहकर वचने की उम्मीद नहीं कर सकता कि उसने जव प्रतिज्ञा ली थी, तो उसे पता नहीं था कि वह क्या कर रहा था।

मैं जानता हूं कि प्रतिज्ञा और व्रत दुर्लभ अवसरों पर लिये जाते हैं, लिये जाने चाहिए। जो व्यक्ति उठते-वैठते प्रतिज्ञा लेता रहता है, वह अवश्य गिरता है। लेकिन दक्षिण अफ़्रीका के भारतीय समाज के इतिहास में यदि मैं प्रतिज्ञा लेने योग्य संकट की घड़ी की कल्पना कर सकता हूं तो वह निश्चय ही इस समय उपस्थित है। किसी गंभीर कदम को वहुत साव-धानी और सोच-विचार के वाद उठाने में वुद्धिमानी है। लेकिन सावधानी और झिझक की भी हद होती है। हम उस हद को अव पार कर चुके हैं। यदि हम अपने चारों ओर सुलगते दावानल का मुकावला करने में अपना सवकुछ दाँव पर न लगा दें और हाथ-पर-हाथ रक्खे वैठे देखते रहें तो हम अपनेको अयोग्य और कायर ही सिद्ध करेंगे। इसलिए इसमें संदेह नहीं कि शपथ लेने का यह उपयुक्त अवसर है। लेकिन हममें से हरेक को अपने-आप यह सोचना है कि उसमें शपथ लेने की इच्छा-शक्ति और योग्यता है या नहीं। ऐसे प्रस्ताव वहुमत से पास नहीं किये जाते। जो लोग शपथ लेंगे, वही उससे वंध सकेंगे। ऐसी शपथ वाहर के लोगों पर प्रभाव डालने के लिए कदापि नहीं लेनी चाहिए। उसका प्रभाव यहां की सरकार, साम्राज्य की सरकार या भारत सरकार पर क्या पड़ेगा, इसका विचार करने का कष्ट किसीको भी नहीं उठाना चाहिए। हर आदमी अपने ही हृदय को टटोले और यदि उसकी अन्तरात्मा उसे भरोसा दिलावे कि उसमें शपथ लेने की अपेक्षित शक्ति है तभी वह शपथ ले और तभी शपथ फलदायक होगी।

अव दो शब्द परिणाम के विषय में कह देना चाहता हूं। अधिक-से-अधिक भले की आशा रखकर हम कह सकते हैं कि यदि अधिकांश भारतीयों ने प्रतिरोध की शपथ ली और शपथ लेनेवाले सव लोगों ने उसे

निभाया तो या तो अधिनियम पास होगा ही नहीं और यदि पास हो गया तो तुरन्त रद हो जायगा। हो सकता है, हमें तनिक भी कष्ट न उठाना पड़े। लेकिन कसम लेनेवाले का एक ओर स्वस्थ आशावादी होना आवश्यक है तो दूसरी ओर उसे बुरे-से-बुरे परिणाम के लिए भी तैयार रहना चाहिए। इसलिए मैं आपको यह बता देना चाहता हूं कि इस संघर्ष में बुरे-से-बुरे परिणाम क्या हो सकते हैं। कल्पना कीजिये कि हम यहाँ अधिक-से-अधिक तीन हजार व्यक्ति उपस्थित हैं और वे शपथ लेते हैं। यह भी कल्पना करें कि शेष दस हजार भारतीय शपथ नहीं लेते। आरम्भ में हम अपनी खिल्ली ही उड़वायेंगे। फिर यह भी सम्भव है कि इस चेतावनी के बावजूद शपथ लेनेवालों में से कुछ या बहुत-से पहली परीक्षा में ही कमजोर पड़ जायं। हो सकता है, हम जेल जायं और वहाँ हमारा अपमान हो। भूख-प्यास, जबरदस्त गर्मी-सर्दी सहनी पड़े। कड़ी मशक्कत करनी पड़े। उद्धत वार्डरों के कोड़े खाने पड़ें। यदि हम थोड़े ही प्रतिरोधी रह गये, तो सम्भव है, हमपर भारी जुर्माना हो और हमारी सम्पत्ति को नीलाम कर दिया जाय। आज हमारे पास बहुत पैसा है, कल कंगाल हो सकते हैं। हमें देशनिकाला भी मिल सकता है। जेल में भूख और वैसे ही कष्टों के कारण हममें से कुछ बीमार पड़ सकते हैं, यहांतक कि कुछ मर भी सकते हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि हम जितने कष्टों की कल्पना कर सकते हैं, वे सब हमें भोगने पड़ें, यह असंभव नहीं है और बुद्धिमानी इसीमें है कि हम यह मानकर ही शपथ लें कि ये सारे कष्ट और इससे भी अधिक हमें भोगने ही होंगे। यदि कोई मुझसे पूछे कि इस संघर्ष का कब और कैसे अन्त होगा तो मैं कह सकता हूं कि यदि सारा समाज मर्दानगी से परीक्षा का सामना कर सका, तो लड़ाई का फैसला जल्दी ही हो जायगा। यदि हममें से बहुत-से तूफान और दबाव में गिर गये, तो लड़ाई लम्बी चलेगी। पर मैं हिम्मत के साथ और निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि जबतक मुट्ठी-भर लोग भी अपनी प्रतिज्ञा के प्रति सच्चे रहेंगे, तो इस लड़ाई का एक ही अन्त होगा, अर्थात जीत हमारी ही होगी।

अब एक शब्द मैं अपनी जिम्मेदारी के विषय में भी कह दूं। यदि मैं प्रतिज्ञा करने की जोखिमों के बारे में चेतावनी दे रहा हूं तो उसके साथ ही मैं आपको शपथ लेने के लिए आमंत्रित भी कर रहा हूं और इसमें मेरी अपनी कितनी जिम्मेदारी है, इसे मैं पूरे तौर पर जानता हूं। हो सकता है कि जो यहाँ उपस्थित हैं, उनमें से अधिकांश आवेश या क्रोध में आकर प्रतिज्ञा कर लें, लेकिन संकट-काल में कमजोर साबित हों और मुट्ठीभर लोग ही अन्तिम परीक्षा का सामना करने के लिए रह जायं, फिर भी मुझ जैसे व्यक्ति के लिए तो एक ही रास्ता होगा और वह यह कि मर जायं, पर कानून के आगे सिर न झुकावें। ऐसी स्थिति संभव नहीं है, पर यदि सब हट गये और अग्निपरीक्षा के समय मैं अकेला ही रह गया तो भी मुझे पक्का भरोसा है कि मैं प्रतिज्ञा का भंग कदापि नहीं करूंगा। मुझे गलत न समझिये। यह मैं अभिमान से नहीं कह रहा, बल्कि मंच पर बैठे नेताओं को विशेष रूप से सावधान कर रहा हूं। मैं आपसे विनयपूर्वक कहना चाहता हूं कि यदि आपमें एकदम अकेले रह जाने पर भी दृढ़ बने रहने की शक्ति और योग्यता नहीं है, तो आप न केवल स्वयं प्रतिज्ञा न लें, बल्कि प्रस्ताव के सभा के सामने रखने और लोगों के प्रतिज्ञा लेन आरम्भ करने से पहले ही अपना विरोध प्रकट कर दें और प्रस्ताव के साथ अपनेको न जोड़ें। यद्यपि हम सामूहिक रूप में प्रतिज्ञा ले रहे हैं, फिर भी किसीको यह नहीं सोचना चाहिए कि एक या अधिक व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ देंगे तो दूसरे उस बंधन से मुक्त हो जायंगे। हरेक को अपनी जिम्मेदारी को पूरी तरह समझकर स्वतन्त्र रूप से प्रतिज्ञा लेनी चाहिए और यह जान लेना चाहिए कि दूसरे कुछ भी करें, पर वे मरते दम तक अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे।

कलेक्टेड वर्क्स ऑव महात्मा गांधी
(खण्ड ५, पृष्ठ ४१९-२२)
११ सितम्बर, १९०६

: ११ :

सत्याग्रह कौन कर सकता है?

ट्रांसवाल में सत्याग्रह की लड़ाई इतनी लम्बी चली और इस ढंग से चली कि हम उससे बहुत-सी चीजें सीख सकते हैं। बहुतों को इसका निजी अनुभव हुआ है। इतना तो हरेक को मालूम हो गया है कि इस प्रकार की लड़ाई में हार के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। यदि किसी अवसर पर हम असफल होते हैं, तो हमें पता चलेगा कि उसका कारण सत्याग्रही की अपूर्णताएं हैं, सत्याग्रह की नहीं। यह बात बहुत ध्यानपूर्वक समझ लेने की है। शरीर-बल की लड़ाई में ऐसा नियम लागू नहीं होता। ऐसी लड़ाई में जब दो सेनाएं लड़ती हैं तो किसी पक्ष की हार जरूरी तौर पर सैनिकों की हीनता के कारण नहीं होती। लड़नेवालों का हौसला ऊंचा होते हुए भी दूसरे साधनों के अभाव से हार हो सकती है। उदाहरण के लिए एक पक्ष के पास दूसरे पक्ष की अपेक्षा अधिक अच्छे हथियार हो सकते हैं या लड़ाई के मैदान में उसे अधिक अनुकूल स्थान प्राप्त हो सकता है, अथवा उसके पास रण-कौशल अधिक हो सकता है। शरीर-बल की लड़ाई में पक्षों की जीत और हार के बहुत-से ऐसे बाहरी कारण हो सकते हैं, लेकिन सत्याग्रह की लड़ाई लड़नेवालों को इन कारणों से कोई कठिनाई नहीं होती। उनकी अपनी कमियां ही उनके मार्ग में बाधक होती हैं। इसके अतिरिक्त सामान्य ढंग की लड़ाई में जो पक्ष हारता है, उसके सभी सदस्य हारे हुए माने जाते हैं और सच्चाई यह है कि वे इस प्रकार सोचते भी हैं। सत्याग्रह में एक की जीत का अर्थ सबकी जीत लगाया जा सकता है, लेकिन सबके हार जाने से उस व्यक्ति की हार नहीं मानी जा सकती, जो स्वयं पराजित

न हो गया हो। उदाहरण के रूप में, ट्रांसवाल की लड़ाई में यदि अधिकांश भारतीयों को भयंकर कानून के आगे झुकना पड़े, तो न झुकनेवाला विजयी होगा, क्योंकि तथ्य यह होगा कि वह पराजित नहीं हुआ।

ऐसी अवस्था में यह जानना जरूरी है कि ऐसी प्रशंसनीय लड़ाई को, जिसमें हार के लिए कोई गुंजाइश नहीं, जिसका एक ही परिणाम हो सकता है, कौन लड़ सकता है ? इस जानकारी से हम ट्रांसवाल-आन्दोलन के कुछ नतीजों को समझ सकेंगे और निश्चय कर सकेंगे कि इस प्रकार के आन्दोलन को दूसरे स्थानों और अवसरों पर किस तरह और किसके द्वारा चलाया जा सकता है।

यदि हम सत्याग्रह के अर्थ के विषय में विचार करें तो हमें पता चलता है कि पहली शर्त यह है कि जो इस प्रकार की लड़ाई लड़ना चाहता है, उसे सत्य के प्रति विशेष आग्रह रखना चाहिए और सत्य में उत्पन्न होनेवाला बल उसमें होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे व्यक्ति को केवल सत्य पर निर्भर करना चाहिए। दो नावों पर पैर रखने से काम नहीं चलेगा। ऐसा करने-वाला बीच में ही कुचल जायगा। सत्याग्रह गाजर नहीं है, जिसे बांसुरी की तरह बजा लो। जो यह सोचता है कि वह बजेगी तो बजा लेंगे, नहीं बजेगी तो उसे खा लेंगे, वह अन्त में कहीं का नहीं रहेगा। यह कहना व्यर्थ है कि सत्याग्रह की लड़ाई वही लड़ सकता है, जिसका शारीरिक बल कम है या जो यह देखकर कि शारीरिक बल काम नही देता, सत्याग्रह के अतिरिक्त और किसी विकल्प की कल्पना नहीं कर सकता। कहा जा सकता है कि जिनकी ऐसी मान्यता है, वे नहीं जानते कि इस लड़ाई का अर्थ क्या है। सत्याग्रह शारीरिक बल की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। शारीरिक बल तो सत्याग्रह की तुलना में तिनके के समान है। आवश्यक रूप में, शारीरिक बल का अर्थ यह है कि जिस आदमी में ऐसा बल है, वह बिना अपने शरीर की चिन्ता किये लड़ाई के मैदान में जूझता है, अर्थात् वह डरपोक नहीं होता। दूसरी ओर, सत्याग्रही अपने शरीर को कुछ भी नहीं गिनता। भय तो उसे छू नहीं सकता। यही कारण है कि वह हथियार

नहीं बांधता, लेकिन विना मौत के डर के मरते दम तक लड़ता रहता है। इसका मतलव यह हुआ कि सत्याग्रही में शारीरिक वलपर निर्भर रहनेवाले व्यक्ति से अधिक साहस होना चाहिए। इस प्रकार सत्याग्रही के लिए पहली आवश्यक चीज़ सत्य का पालन, सत्य में निष्ठा, होनी चाहिए।

धन-सम्पत्ति के प्रति उसमें अनासक्ति होनी आवश्यक है। धन और सत्य सदा एक-दूसरे के विरोधी होते हैं और अन्त तक रहेंगे। हमने ट्रांसवाल के भारतीयों के वहुत-से दृष्टान्तों से देखा है कि जो धन से चिपकता है, वह सत्य के प्रति सच्चा नहीं रह सकता। इसका अर्थ यह नहीं कि सत्याग्रही के पास धन होना ही नहीं चाहिए। वह धन रख सकता है, लेकिन वह अपने धन को ईश्वर नहीं वना सकता। जिस हद तक धन सत्य के पालन से संगत है, उस हद तक वह ठीक है, अन्यथा उसे हाथ का मैल समझकर त्यागने में एक क्षण की भी हिचक नहीं होनी चाहिए। जिसने अपना मन इस प्रकार का नहीं वनाया, वह सत्याग्रह नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त जिस देश में राजा के विरुद्ध सत्याग्रह करना हो, उस देश में सत्याग्रही के पास धन का होना सम्भव नहीं है। राजा का वल मनुष्य पर भले ही न चले, लेकिन वह उसकी सम्पत्ति को लूट सकता है या उसके लुट जाने के डर से लाभ उठा सकता है। राजा अपनी प्रजा को सम्पत्ति के छिन जाने या शारीरिक हानि पहुंचाने की धमकी देकर उसे अपनी इच्छा के आगे झुका सकता है। इसलिए अत्याचारी राजाओं के राज्य में केवल वही लोग सम्पत्ति रख या जोड़ सकते हैं, जो उनके अत्याचार में भागीदार होते हैं। चूंकि सत्याग्रही अत्याचार में भागीदार नहीं हो सकता, उस हालत में उसे अपनी ग़रीवी में ही अपनेको अमीर मानकर, सन्तोष करना चाहिए। यदि उसके पास सम्पत्ति है, तो उसे किसी दूसरे देश में रखना चाहिए।

सत्याग्रही को घर-वार का भी मोह छोड़ना पड़ता है। ऐसा करना वड़ा कठिन है। लेकिन सत्याग्रही का आचरण, यदि सत्याग्रह अपने नाम के अनुरूप हो तो, तलवार की धार पर चलने के समान है। कुटुम्व से

मोह छोड़ देना भी अन्त में कुटुम्ब के लिए लाभदायक ही सिद्ध होता है, क्योंकि कुटुम्ब के लोग भी सत्याग्रह के आवाहन का अनुभव करने लगते हैं और जो ऐसे आवाहन को अनुभव करते हैं, उनमें और कोई इच्छा रह नहीं जाती। जब किसी प्रकार का कष्ट सामने हो, सम्पत्ति का छिनना या जेल जाना हो तो इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि परिवार के भविष्य का क्या होगा। जिसने हमें दांत दिये हैं, वह हमें खाने को भी देगा। यदि ईश्वर ने सांप, बिच्छू, बाघ, भेड़िया जैसे भयंकर जानवरों के लिए खाने की व्यवस्था की है, तो वह मानव-जाति को नहीं भूल सकेगा। हम सेर भर बाजरे या मुट्ठी-भर अन्न के पीछे नहीं दौड़ते, बल्कि पेट की खुशी की खातिर ऐसा करते हैं। ठंड को दूर करने के लिए हमें कपड़े चाहिए, इसलिए नहीं, बल्कि रेशम और कीमखाब की इच्छा रखकर उन्हें जुटाते हैं। यदि हम इन सब बेचैनी भरी लालसाओं को छोड़ दें, तो कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए चिन्ता करने की शायद ही जरूरत रहे।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखने योग्य है कि शारीरिक बल का प्रयोग किया जाय, तब भी ऐसी बहुत-सी चीजों का त्याग करना पड़ता है। भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी सहनी होती है, कुटुंब के बन्धन छोड़ने पड़ते हैं, आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। जब बोअरों को शारीरिक बल का प्रयोग करना पड़ा, तो उन्हें इस सबसे गुजरना पड़ा। उन्होंने जो शारीरिक प्रतिरोध किया, उसमें और सत्य पर आधारित हमारे प्रतिरोध में, एक अन्तर यह है कि उनकी बाज़ी जुए की बाजी थी। इसके अतिरिक्त, वे अपने शारीरिक बल पर अभिमान से फूल उठे। अपनी आंशिक सफलता पर वे अपनी पहले की दशा को भूल गये। वे भयंकर शत्रु से भयंकर शस्त्रों द्वारा लड़कर अब हमपर भयंकर अत्याचार कर रहे हैं। जब सत्याग्रही संग्राम में जीतता है, तो उसकी सफलता उसके लिए तथा दूसरों के लिए हितकर होती है। सत्य पर डटने वाला सत्याग्रही कभी अत्याचारी नहीं हो सकता।

इस प्रकार अन्ततोगत्वा हम इस निर्णय पर आते हैं कि सत्याग्रह

वही कर सकता है, जिसकी धर्म में सच्ची निष्ठा है। मुख में राम बगल में छुरी, निष्ठा नहीं है। धर्म का नाम लेकर ठीक उसीकी शिक्षा के विरुद्ध आचरण करना धर्म नहीं है। लेकिन जिसके अन्दर सच्चा धर्म और निष्ठा है, वह सत्याग्रह कर सकता है। दूसरे शब्दों में, जो सबकुछ ईश्वर पर छोड़ देता है, उसकी इस संसार में कभी हार हो ही नहीं सकती। ऐसे व्यक्ति महज़ इसलिए कि लोग उन्हें हारा हुआ कहते हैं, हारते नहीं। इसी तरह महज़ लोगों के यह कहने से कि वे जीत गये हैं, जीतते नहीं। इस बारे में बहस नहीं हो सकती। यदि आप इस अन्तर को जानते हैं, तो जानते हैं, अन्यथा नहीं।

यह सत्याग्रह का सच्चा रूप है। ट्रांसवाल के भारतीयों ने इसे एक हद तक समझ लिया है। समझकर कुछ हद तक सचाई से पालन भी किया है। इतने से ही इसकी मूल्यवान मिठास का आस्वादन कर लिया है। जिसने सत्याग्रह के लिए सबकुछ निछावर कर दिया है, उसने सबकुछ पा लिया है, क्योंकि वह सन्तोष से जीवन-यापन करता है। सन्तोष ही सुख है। इसके अतिरिक्त दूसरा सुख किसने जाना है? इसे छोड़कर अन्य सुख तो मृगजल के समान है; ज्यों-ज्यों हम उसकी ओर बढ़ते हैं, वह दूर होता जाता है।

हम आशा करते हैं कि प्रत्येक भारतीय इस प्रकार सोचेगा और अपनेको सत्याग्रही बनावेगा। यदि हम सत्याग्रह के हथियार को चलाना सीख लें, तो अन्याय से उपजनेवाली सारी कठिनाइयों को जीतने में इसका उपयोग कर सकते हैं। केवल दक्षिण अफ़्रीका में ही यह हथियार उपयोगी नहीं है। यह हमारे देश में भी उपयोगी होगा। हमें केवल उसके सच्चे स्वरूप का पता होना चाहिए। उसे समझना जितना आसान है, उतना ही कठिन भी है। अधिक शारीरिक बलवाले दुर्लभ हैं। उनसे भी अधिक दुर्लभ वे हैं, जो सत्य से शक्ति प्राप्त करते हैं।

इंडियन ओपीनियन (गुजराती)
२९ मई, १९०९

: १२ :

सत्याग्रह की सीमाएं

एक पत्र के उत्तर में, जिसमें और विषय थे, एक निर्दोष अनुच्छेद के कारण मेरी राय में सत्याग्रह और उसके जनक को अदूरदर्शिता से ग़लत समझ लिया गया है। वह अनुच्छेद एक निजी पत्र का अंश है, जो गुजराती में श्री भरूचा को लिखा गया था। वह सत्याग्रह का भाष्य नहीं है और दूसरे प्रत्येक पत्र की भांति उसमें बहुत-सी बातें हैं, जो मूल पत्र के लेखक और उत्तरदाता के बीच जानी-समझी हुई हैं। यह पत्र अखबारों में प्रकाशन के लिए नहीं था। लेकिन जब श्री भरूचा ने तार देकर उस अनुच्छेद के प्रकाशन की अनुमति मांगी, तो तार से अपनी स्वीकृति भेजने में मुझे हिचक नहीं हुई। मेरे सामने अखबार की जो रिपोर्ट है, उससे मालूम होता है कि नागपुर-सभा के व्याख्यान-दाताओं ने सुझाया कि श्री भरूचा के पत्र में, मैंने जो बात समझाई है वह मुझे नागपुर-सत्याग्रह के शुरू होते ही समझा देनी चाहिए थी। मैं इस विचार से असहमत हूं। यदि श्री अवारी ने अपने आन्दोलन के लिए मेरी सहमति की बात न कही होती, तो उसके खण्डन में लिखा गया लेख भी मैं न लिखता। मेरा नियम है कि जहां मैं सहायता नहीं कर सकता वहां अपनी ओर से अनावश्यक अथवा अनपेक्षित बाधा उपस्थित नहीं करता। इसलिए नागपुर-सत्याग्रह के सम्बन्ध में उस समय मुझे जो जानकारी थी, उसपर विस्तार से राय देने की अपेक्षा मैंने केवल खण्डन और देश में फैली हिंसा के सामान्य वायुमण्डल पर अपनी सम्मति देने तक अपने को सीमित रक्खा, और मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि

नागपुर-सत्याग्रह को स्थगित करने के लिए मेरे किसी पत्र का उपयोग करना अवैध था। यदि जिन्हें वह पत्र दिखाने की छूट दी गई, वे उसके तर्क से सहमत नहीं थे, साथ ही जब उन्होंने मेरे पत्र का सार्वजनिक उपयोग करने का निश्चय किया तो, मेरे प्रति उनका यह कर्तव्य था कि वे मुझसे उन मुद्दों का खुलासा करा लेते, जिन्हें वे समझ नहीं पाये थे, अथवा जो उन्हें मेरे पहले के लेखों से असंगत जान पड़े थे। नागपुर के उत्साही युवकों के प्रति भी उनका कर्तव्य था कि वे उनके बीच ऐसी राय उपस्थित करके उनके उत्साह को ठण्डा या उन्हें बेचैन न कर देते, जिसे वे समझते या स्वीकार नहीं करते थे। जहांतक मेरा सम्बन्ध है, मैं इस देश में आज जो बहुत-सी पागलपन-भरी बातें हो रही हैं, उन पर राय देना अपने कर्तव्य का अंग नहीं मानता। वह उन कामों को करनेवालों को वैसा लगे यह आवश्यक नहीं है और हो सकता है कि वह वास्तव में बुद्धिमानी की निशानी हो, इसलिए, हालांकि सत्याग्रह के नाम पर बहुत-से स्थानों पर काम किये जा रहे हैं, फिर भी मैंने उनके सम्बन्ध में एक शब्द भी कहने की आवश्यकता अनुभव नहीं की और मैं नागपुर के युवकों तथा सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को यह सुझा देना चाहता हूं कि वे सत्याग्रह करने अथवा जबतक वे कांग्रेस के नाम का इस्तेमाल नहीं करते तबतक किसी अनुचित कार्य का प्रतिरोध करने के लिए वे कांग्रेस की अनुमति लेने को बाध्य नहीं हैं। और यदि वे सचमुच मानते हैं कि नागपुर सत्याग्रह का औचित्य था, वह वास्तव में सत्याग्रह था, तो तत्काल अपने आन्दोलन को आरम्भ न कर देना अपने सेनापति तथा जेल के अन्य साथियों को त्याग देने के समान होगा। यह ऐसा तब नहीं होगा जब वे मेरे साथ सहमत हों कि जिसे उन्होंने सत्याग्रह समझा था, वह असल में सत्याग्रह नहीं था।

पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के बाद, अब मैं उस भ्रम को दूर करने का प्रयत्न करूंगा, जिसे उन सद्भावी मित्रों ने, जिन्होंने पत्र की आलोचना करने का बीड़ा उठाया है, सत्याग्रह के सम्बन्ध में पैदा कर दिया है। मैं मानता हूं कि नागपुर के ढंग पर सत्याग्रह करके अस्त्र अधिनियम को नहीं तोड़ा

जा सकता है। याद रखिये कि नागपुर की रिपब्लिक सेना और सरकार के बीच झगड़े की जड़ अस्त्र अधिनियम नहीं था, बल्कि बहुत-से देशभक्त बंगाली युवकों की अनुचित तथा अवैध नजरबन्दी थी। इसलिए सविनय अवज्ञा के लिए अस्त्र अधिनियम को चुनना हर तरह से गलत था। बहुत-से वक्ताओं ने मेरे पत्र का ऐसा अर्थ लगाया है, जो मेरी राय में उससे नहीं निकलता, न निकालने का कभी इरादा था। सन् १९१७ या १८ में ही मैंने कहा था कि सरकार के बहुत-से काले कारनामों में निरस्त्रीकरण सबसे काला था और यद्यपि अहिंसा में मेरा पक्का विश्वास होते हुए भी मैं मानता हूं कि प्रत्येक भारतवासी का यह अधिकार है कि जो हथियार बांधना चाहे वह कानून न बांध सके। मेरा निवेदन है कि अस्त्र अधिनियम अब और आगे भी अच्छी सरकार के लिए सदा आवश्यक होगा। मैं इस बात में विश्वास नहीं करता कि बिना लाइसैन्स के जितने चाहें उतने हथियार रखने का प्रत्येक नागरिक को जन्म-सिद्ध अधिकार है। इसके विपरीत मेरा मानना है कि अच्छी सरकार के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य के हाथ में निश्चित अवस्थाओं को छोड़कर हथियार धारण करने पर पाबन्दी लगाने का अधिकार होना चाहिए। मैं अनुचित अस्त्र अधिनियम या अनुचित शासन के विरुद्ध सत्याग्रह करने की भी उसी प्रकार कल्पना कर सकता हूं, जिस प्रकार चोरी या अन्य अपराधों को रोकने के लिए अनुचित अधिनियम के विरुद्ध सत्याग्रह को उचित ठहरा सकता हूं। लेकिन मैं यह भी मानता हूं कि जिस प्रकार अनुचित अपराध अधिनियम के विरुद्ध उन अपराधों को करके सत्याग्रह नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार हथियार बांधकर अस्त्र अधिनियम के विरुद्ध सत्याग्रह नहीं किया जा सकता।

सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा का अन्तर भी हम समझ लें। सारी सविनय अवज्ञाएं सत्याग्रह का अंग होती हैं, लेकिन सारे सत्याग्रह सविनय अवज्ञा नहीं होते और यह देखते हुए कि नागपुर के मित्रों ने, जिसे वे सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा कहते हैं, स्थगित कर दी है, उनकी तथा दूसरों की जानकारी के लिए यह बता देना चाहता हूं कि बंगाल के नजरबन्दों के

सन्दर्भ में किस प्रकार वैध ढंग पर सत्याग्रह किया जा सकता है। यदि वे मुझसे नाराज न हों या मुझपर हँसे नहीं, तो मैं यह कहकर आरम्भ करूंगा कि वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के अग्रदूत बनकर जहां दोनों में झगड़ा हो वहां अपने सिर तोड़ने की छूट देकर और जब उनमें जोरदार लड़ाई न हो, तो परधर्मियों की सेवा शान्ति से करके सत्याग्रह कर सकते हैं। यदि इस प्रकार के रचनात्मक तरीके उन्हें पसन्द न हों और यदि अपने चारों ओर विचार-वाली और कर्म में व्याप्त हिंसा के वावजूद सविनय अवज्ञा से कम में उन्हें सन्तोष न हो, तो मैं उन्हें व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा का नुस्खा समझाऊंगा। इसे एक आदमी भी कर सकता है, सचमुच इस आशा से नहीं कि नजरवन्दों की तत्काल रिहाई हो जायंगी, लेकिन निश्चय ही इस आशा से कि व्यक्तिगत त्याग से अन्ततोगत्वा वे छूट ही जायंगे। नागपुर से एक जत्था या एक अकेला आदमी ही कलकत्ता के गवर्नमेण्ट हाऊस तक पैदल कूच करे और यदि पैदल कूच दुखदायी या असम्भव हो, तो वे अपने मित्रों से रेल भाड़े के लिए पैसा मांग लें और कलकत्ता, पहुंचकर केवल एक सत्याग्रही गवर्नमेण्ट हाऊस की ओर जाय और उस विन्दु तक चलता ही रहे, जबतक कि उसे रोका न जाय। वहां वह पुरुष या स्त्री सत्याग्रही रुक जाय और मांग करे कि नजरवन्दों को छोड़ दिया जाय या हमें गिरफ्तार कर लिया जाय। इस अवज्ञा को सविनय बनाये रखने के लिए सत्याग्रही को बिल्कुल खाली हाथ होना चाहिए और अपमान, मार और उससे भी बुरी बातों के वावजूद नम्रतापूर्वक, वहां डटे रहें और ज़रा भी विरोध किये बिना गिरफ्तार हो ज य। अपना भोजन, एक बोतल पानी अपने धर्म के अनुसार गीता-कुरान, बाइबिल, जेंदअवस्था या ग्रन्थसाहब और अपनी तकली झोली में साथ ले जा सकते हैं। अगर ऐसे सच्चे सत्याग्रही अधिक संख्या में हुए तो वे निश्चय ही बहुत थोड़े समय में वातावरण को बदल देंगे, जैसे कि पानी की हल्की बौछार, भारत के मैदानों को एक दिन में सुन्दर हरे-भरे कालीन कें रूप में परिवर्तित कर देती है।

यह प्रश्न उचित ही पूछा जायगा कि "यदि आप जो कहते हैं, वही

वास्तव में आपका आशय है तो आप आगे क्यों नहीं आते। भले ही आपके पीछे कोई आवे या नहीं ?" मेरा उत्तर है, "ऐसे वीरतापूर्ण उद्देश्य के लिए मैं अपनेको पवित्र नहीं मानता। अपने जीवन में, मैं हर घड़ी विचार, वाणी और कर्म में आवश्यक पवित्रता पैदा करने की कोशिश कर रहा हूं। जो स्थिति है, उसमें मैं मानता हूं कि मैं बहुत-से विकारों के वशीभूत हो जाता हूं, जिन्हें मैं दुष्कृत्य मानता हूं। उन्हें देखकर या उनके बारे में सुन कर मेरे दिल में क्रोध भभक उठता है। अपने लिए मैं विनम्रता से केवल इतना दावा कर सकता हूं कि मैं इन विकारों और मनोभावों को बहुत कुछ काबू में किये रहता हूं और उन्हें अपने ऊपर हावी नहीं होने देता, लेकिन ऐसे किसी वीरतापूर्ण कार्य के लिए मैं जो पवित्रता का मानदण्ड रखता हूं, वह यह है कि इस प्रकार के विकार बिल्कुल हों ही नहीं और फिर भी पाप के प्रति घृणा रहे। जब मैं यह अनुभव करूं कि मैं इस योग्य हो गया हूं कि मेरे अन्दर बुरे विचार प्रवेश नहीं कर सकते और मैं मानता हूं कि प्रत्येक धर्म-भीरु व्यक्ति उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है तब मैं किसी आदमी की सलाह के लिए प्रतीक्षा नहीं करूंगा और सबसे बड़ा पागल कहे जाने का खतरा उठाकर भी मैं वायसराय का दरवाजा खटखटाने या जहां ईश्वर मुझे ले जाय, वहां जाने और इस देश का जिसे आज भूमिसात किया जा रहा है, दातव्य मांगने में आगा-पीछा नहीं करूंगा।

इस बीच कोई भी सत्याग्रह की खिल्ली न उड़ावे। उल्टी-सीधी नकल न बनावे। अगर यह किसी प्रकार सम्भव हो, तो सत्याग्रह को छोड़िये। अबाध गति से काम करने के लिए सारा मैदान खुला पड़ा है। जिस सागर में कोई नक्शा नहीं है, न प्रकाश-स्तम्भ है, उसमें कप्तान जिधर साहस करे, जा सकता है, लेकिन वह कप्तान जो प्रकाश-यन्त्र को और उसकी स्थिति को जानकर जहाज को जैसे-तैसे चलाता है, या धोखा देने वाले तारों से प्रकाश-स्तम्भ को जानने की सावधानी नहीं रखता, वह अपने पद के अयोग्य माना जायेगा। यदि पाठक मेरी बात मानें तो उसे समझ लेना चाहिए कि मेरा दावा है कि मैं भारतीय राजनीति के बिना मानचित्र

के सागर में सत्याग्रह रूपी प्रकाश-स्तम्भ का प्रहरी हूं और इसीलिए मैंने यह सुझाया है कि जो सत्याग्रह करना चाहते हैं, वे उसके प्रहरी के पास जांय तो अच्छा होगा। लेकिन मैं जानता हूं कि सत्याग्रह का मुझे ठेका नहीं मिला है। इसलिए मैं अपने पद की स्वीकृति के लिए अपने सहकर्मियों के अनुग्रह पर ही निर्भर करता हूं।

यंग इंडिया
१४ जुलाई, १९२७

: १३ :

सत्याग्रह का भेद

ट्रांसवाल के भारतीय सत्याग्रह के भेद को नहीं समझ पाये हैं, इससे वड़ी गलतफहमी फैली हुई दिखाई देती है। अतः खूनी कानून के विरुद्ध हमारी जीत के सिलसिले में सत्याग्रह पर कुछ और अधिक विचार करने की आवश्यकता है। जो सत्याग्रह के असली अर्थ को समझते हैं, उनके मन में जीत के विषय में तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिए।

सत्याग्रही कुछ अंश में ऐसी छूटें ले सकता है, जिन्हें दूसरों के लिए लेना सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें सच्ची मर्दानगी आ जाती है। एक वार उसके मन से डर निकला कि वह फिर किसीकी गुलामी करने को राजी नहीं होगा। मन की ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने पर वह कभी किसी स्वेच्छाचारी व्यवहार के आगे नहीं झुकेगा।

इस प्रकार का सत्याग्रह केवल सरकार के विरुद्ध नहीं, समाज के विरुद्ध भी किया जा सकता है, किया जाना चाहिए। अक्सर ऐसा होता है कि सरकार की तरह समाज भी गलती करता है। तव समाज के विरुद्ध सत्याग्रह करना व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है। स्वर्गीय थोरो ने सोचा कि गुलामों का रोजगार करके उनके देशवासियों ने गलती की। इसलिए उन्होंने अपने ही लोगों का विरोध किया। महान लूथर अकेला ही अपने समाज के विरुद्ध खड़ा हो गया। आज जर्मनी स्वतंत्रता का उपभोग कर रहा है, तो इसका श्रेय उसी को है। गैलीलियो ने अपने समाज का विरोध किया। लोग उसे मारने पर तुल गये। उसने दृढ़ता के साथ उनसे कहा, "यदि आप मुझे मारना चाहते हैं, तो मार डालें, लेकिन फिर भी यह सच है

कि धरती सूरज के चारों ओर घूमती है।" आज हम सब जानते हैं कि धरती गोल है और चौबीस घंटे में वह अपनी धुरी पर एक चक्कर लगा लेती है। कोलम्बस ने अपने नाविकों का सामना करने में एक सच्चे सत्याग्रही की भांति आचरण किया। लम्बे सफर से थक जाने पर नाविकों ने कहा "हम अमरीका कभी नहीं पहुंच पायेंगे। लौट चलो, नहीं तो हम तुम्हें मार डालेंगे।" बिना घबराये कोलम्बस ने उत्तर दिया, "मुझे मरने का डर नहीं है, लेकिन मेरे विचार से अभी हमें कुछ दिन और चलना चाहिए।" अंत में उन्होंने अमरीका को खोज लिया और कोलम्बस अमर हो गया।

यह सत्याग्रह ऐसा अचूक उपाय है। जब हम डर के मारे यह पूछते हैं कि सरकार ने कानून रद्द नहीं किया, तो क्या होगा, तो हम अपने सत्याग्रह या बातचीत की कमियों को ही प्रकट करते हैं, मानो सत्याग्रह के अस्त्र को खोकर हम शक्तिहीन बन गये हैं। परन्तु अपने सत्याग्रह से हमें स्वतन्त्र होने और स्वाधीन अनुभव करने की प्रेरणा मिलती है। इसलिए हमें डरने की कोई बात नहीं है। "यह सब कहने की बात है। आप कुछ भी कहें, आप आन्दोलन को दोबारा आरम्भ नहीं कर सकते। एक बार लड़कर भर पाया।" कुछ लोग ऐसा कहते हैं। यदि यह सत्य है कि हम आन्दोलन को फिर से चालू नहीं कर सकते, तो हमारा उसे शुरू करना ही बेकार है।

हम अपने इस दृष्टिकोण को सिद्ध करेंगे। सामान्यतया देखने में आता है कि कोई चीज जिन साधनों से प्राप्त होती है, उन्हीं साधनों से उसे बनाये रखा जाता है। शेर अपने शिकार को बल से पकड़ता है, और बल से ही उसे दबाये रहता है। जो लोग जबरदस्ती कैद किये जाते हैं, वे बल के द्वारा ही वहां रोके जाते हैं। बल के जोर पर जीते हुए देश को राजा बल से ही अपने अधीन रखते हैं। उसी प्रकार जो प्यार से प्राप्त किया जाता है, वह प्यार से ही रक्खा जाता है। अपने पेट में बच्चे के लिए मां बड़ा प्यार अनुभव करती है और बाद में उसी प्यार से वह उसका पालन-पोषण

करती है। वचपन में उसे दी गई सजा को वलप्रयोग नहीं मानना चाहिए। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब किसी कारण से मां ने वच्चे को प्यार करना वन्द कर दिया तो वच्चा एकदम हाथ से निकल गया। जव सत्याग्रह तोड़ दिया जाता है तो उससे प्राप्त वस्तु भी निश्चित रूप से छूट जाती है। सत्याग्रह से पाई चीज को भौतिक वल से रोके रखने में सफल होना असम्भव है। मान लीजिये कि भारतीयों ने सत्याग्रह से जो विजय अर्जित की है, उसके फल को भौतिक वल से सम्भालकर रखना चाहते हैं। यह वात एक वच्चा भी समझ सकता है कि यदि भारतीय भौतिक वल का सहारा लेंगे तो एक मिनट में कुचल दिये जायंगे। इसी प्रकार यदि हम सत्याग्रह छोड़ देते हैं, जैसाकि हमने पहले किया, तो जो पाया है, उसे फिर से गंवा देंगे।

इन उदाहरणों से यह वात समझ में आ जानी चाहिए कि सत्याग्रह वास्तव में मन की एक स्थिति है। जिसके मन की स्थिति सत्याग्रही की वन गई, वह हमेशा, हर जगह और हर परिस्थिति में, विजयी ही रहेगा, भले ही उसके विरोध में सरकार हो या जनता, अपरिचित हो या मित्र अथवा सम्वन्धी।

चूंकि हम सत्याग्रह के चमत्कार को नहीं समझते, इसीलिए हम भारत में दीन-हीन होकर रहते हैं और यह सरकार के ही नहीं, आपसी सम्वन्धों के वारे में भी ठीक है। मुख्यत: सत्याग्रह की भावना के अभाव के कारण ही हम कुछ हीन रूढ़ियों को अपने देश में वनाये हुए हैं। हालांकि हम अच्छी तरह से जानते हैं कि अमुक रूढ़ियां निकम्मी हैं, फिर भी हम उन्हें भय, आलस्य अथवा दूसरों के अनुचित मुलाहिजे के कारण छोड़ नहीं पाते।

इस सन्दर्भ में मैं एक ताजा उदाहरण देता हूं। जव प्रिटोरिया के टाउन हाल में गोरों ने भारतीयों के विरोध में सभा की तो हमारे पक्ष में वोलनेवाले केवल चार गोरे थे। इस प्रकार एक हजार के विरुद्ध चार थे। लेकिन भीड़ की गालियों की वौछार के वीच उन्होंने वीरता से अपना मत

प्रकट किया। परिणाम यह हुआ कि उनके सत्याग्रह से सभा का महत्व काफी कम हो गया और सभा एक पशुशाला जैसी होकर रह गई।

लेकिन इस सवाल पर हम दूसरे ही दृष्टिकोण से विचार करना चाहते हैं। चिन्तन करने पर हमें पता चलता है कि संसार में जिसे लोग सफलता मानते हैं, वह अधिकांशतः वास्तविक सफलता नहीं होती। कभी-कभी जीत की अपेक्षा वह हार की निशानी होती है, ऐसा कहने में कोई अति-शयोक्ति नहीं है। यदि कोई अपने घर से चोरी करने की इच्छा से निकलता है और काफी प्रयत्न करने के वाद अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है, तो यह उसकी दृष्टि से सफलता गिनी जा सकती है। विचार करने पर हम अनुभव करते हैं कि उसकी सफलता वास्तव में उसकी पराजय थी, यदि वह असफल हो गया होता तो वह उसकी सच्ची सफलता होती। यह एक मोटा उदाहरण है, कारण कि इस सन्दर्भ में इसे समझ लेना आसान हैं आदमी के जीवन में ऐसे सैकड़ों अवसर आते हैं, जवकि वह सही और गलता के बीच आसानी से भेद नहीं कर पाता। इसलिए यह निश्चय करना कठिन है कि आदमी के ध्येय की प्राप्ति वास्तव में हार है या जीत। इससे यह नतीजा निकलता है कि सफलता और असफलता आवश्यक रूप में परिणाम पर निर्भर नहीं करती है। इसके अलावा, परिणाम किसीके हाथ की चीज नहीं है।

हमें विश्वास है कि यदि विना अधिक प्रयत्न किये हमने कानून को रद्द करा दिया होता तो उससे हमें सन्तोष होता। लेकिन तब विजय अथवा पराजय का प्रश्न न होता। अपनी जीत का डंका पीटने का ही अवसर न होता, न भारतीयों की जीत की इतनी गूंज होती, जितनी कि आज दुनिया भर में हो रही है। इससे पता चलेगा कि भारतीयों की जीत में यह आशा उतनी निहित नहीं है कि कानून भंग कर दिया जायगा, जितना कि परिणाम को लाने का प्रयत्न। यदि कानून रद्द न होता तो भी भारत के साहस की हर घर में सराहना होती। ऐसे वहुत-से दृष्टान्त हम याद कर सकते हैं। एक ऐसा प्रख्यात दृष्टान्त मुझे अभी सूझा है। किसी समय स्पार्टा के

मुट्ठी-भर लोग थर्मापोली के रास्ते की रक्षा करते हुए खड़े रहे और जब-तक एक आदमी भी बचा, तबतक दुश्मन से उसे बचाये रहे। अन्त में उस रास्ते को दुश्मन ने अपने कब्जे में कर लिया, लेकिन आज भी दुनिया जानती है कि जीत तो स्पार्टा के बहादुरों की हुई। आज भी यूरोप में यदि कोई बड़ा साहस दिखाता है तो कहा जाता है कि उसने स्पार्टनों के जैसा साहस दिखाया। जहांतक भारतीयों का सम्बन्ध है, हालांकि हम यह दावा नहीं कर सकते कि उन्हें जो करना चाहिए था, वह सब उन्होंने किया, लेकिन फिर भी उन्होंने बहुत किया। बड़ा परिश्रम किया और उस हद तक, परिणाम कुछ भी हुआ हो, हम उसे जीत ही मानते हैं। ध्यान रहे कि भारतीय समाज को इसी भावना से अनिश्चित समय तक लड़ाई को चलाना होगा, क्योंकि अभी हमें बहुत-सी चीजें प्राप्त करनी हैं। हमें जमीन लेनी है, हमें स्वतन्त्रतापूर्वक गाड़ियों में चढ़ना है। इस सबकी प्राप्ति के लिए हमें उतना ही प्रयत्न करना होगा, जितना हमने इस अवसर पर किया है। यदि हम ऐसा न करेंगे तो कदम-कदम पर हमारी जीत होगी, क्योंकि हर क्षण हम अपने कर्तव्य का पालन करेंगे। यदि इस प्रकाश में जीत को देखा जायगा तो कोई भी व्यक्ति सफलता से फूलेगा नहीं। वह कभी भूल नहीं कर सकता और न अपने परिश्रम के फल की परवा कर सकता है, कारण कि फल के लिए वह अपने ऊपर कोई जिम्मेदारी नहीं ले सकता। फल के लिए तो केवल इस जगत का सिरजनहार ही जिम्मेदार है।

इंडियन ओपीनियन
२२ फरवरी और ७ मार्च, १९०८

: १४ :

रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उत्तर

एशिया के कवि, जैसाकि लार्ड हार्डिंग ने डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को कहा था, वड़ी तेजी से विश्व के कवि, यदि पहले ही नहीं वन चुके हैं, तो अब वनते जा रहे हैं। जैसे-जैसे उनकी प्रतिष्ठा बढ़ रही है, वैसे-वैसे उनकी जिम्मेदारी भी बढ़ती जा रही है। भारत के प्रति उनकी सबसे बड़ी सेवा अवश्य ही भारत के उस संदेश की काव्यात्मक व्याख्या है, जो सारे संसार के लिए उसके पास है। इसलिए कविवर को इस वात की सच्ची दिल से चिंता है कि भारत अपने नाम में कोई झूठा या सारहीन संदेश न दे। अपने देश के सुयश को लेकर उनका ईर्ष्यालु होना स्वाभाविक है। वह कहते हैं कि उन्होंने वर्तमान आन्दोलन के साथ अपना स्वर मिलाने का भरसक प्रयत्न किया है। वह स्वीकार करते हैं कि वह व्याकुल हो गये हैं। असहयोग के शोरगुल में उन्हें अपनी वीणा के लिए कोई स्वर नहीं मिल रहा है। तीन जोरदार पत्रों में उन्होंने अपने संदेह को प्रकट करने की कोशिश की है, और वह इस निर्णय पर आये हैं कि असहयोग उनकी कल्पना के भारत के लिए पर्याप्त गौरवशाली नहीं है और यह निषेध तथा निराशा का सिद्धान्त है। उन्हें भय है कि यह अलगाव, भेदभाव, संकीर्णता तथा निषेध का सिद्धान्त है।

भारत की प्रतिष्ठा के लिए कविवर के अपूर्व प्रेम पर प्रत्येक भारतवासी को गर्व ही हो सकता है। यह अच्छा हुआ कि उन्होंने बड़ी ही सुन्दर तथा स्पष्ट भाषा में अपना सन्देह हमपर प्रकट कर दिया।

बड़ी नम्रता से मैं कविवर के सन्देहों का उत्तर देने का प्रयत्न करूंगा।

हो सकता है कि मैं उनका या पाठकों का जिनपर उनकी तेजस्वी वाणी का प्रभाव पड़ा है, समाधान न कर सकूं, लेकिन मैं उनको और भारत को विश्वास दिलाता हूं कि असहयोग की कल्पना में ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसका उन्हें भय है और उन्हें अपने देश पर असहयोग को स्वीकार कर लेने के लिए लज्जित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि प्रत्यक्ष रूप से अमल करने पर ऐसा मालूम होता है कि वह अन्ततः असफल हो गया, तो इसमें सिद्धान्त का कोई दोष नहीं होगा। अगर सत्य को असली रूप देने-वाले सफल न हों, तो इसमें सत्य का दोष नहीं। हो सकता है कि असहयोग समय से पहले आ गया हो। तब भारत और दुनिया को प्रतीक्षा करनी चाहिए। लेकिन भारत के लिए हिंसा और असहयोग में से एक को चुनने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है।

कवि को इस बात का भी भय नहीं रखना चाहिए कि असहयोग भारत और पश्चिम के बीच एक बड़ी दीवार खड़ी करने के लिए है। इसके विपरीत, असहयोग का उद्देश्य तो आपसी सम्मान और विश्वास के आधार पर सच्चे, सम्मानपूर्ण और स्वेच्छित सहयोग की जमीन तैयार करना है। वर्तमान संघर्ष, जोर-जबर्दस्ती के सहयोग, इकतरफ़ा गठबन्धन और सभ्यता के नाम पर शोषण के आधुनिक तरीकों को सशस्त्र ढंग से थोपने के विरुद्ध है।

असहयोग तो इस बात के विरोध में किया गया है कि बिना जानकारी तथा इच्छा के बुराई में हमारा सहयोग कराया जा रहा है।

कवि की चिन्ता मुख्यतः विद्यार्थियों को लेकर है। उनकी राय है कि जबतक दूसरे स्कूल न खुल जायं, तबतक उनसे सरकारी स्कूल छोड़ने को न कहा जाय। इसमें मेरा उनसे मतभेद है। मैंने कभी साहित्यिक शिक्षण को परम आवश्यक नहीं माना। मेरे अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है, और उससे मुझे सन्तोष है कि साहित्य की शिक्षा-मात्र से मनुष्य की नैतिक ऊंचाई एक इंच भी नहीं बढ़ती और चरित्र-निर्माण का साहित्य की शिक्षा से कोई संबंध नहीं है। मेरा पक्का विश्वास है कि सरकारी स्कूलों ने हमें

पुरुषार्थ-हीन, असहाय तथा ईश्वर-विमुख बना दिया है। उन्होंने हमारे अन्दर असन्तोष भर दिया है और असन्तोष को दूर करने का कोई मार्ग न दिखाकर हमें हताश कर दिया है। उन्होंने हमें क्लर्क और दुभाषिया बना दिया है, जो कि वे हमें बनाना चाहते थे। किसी सरकार की प्रतिष्ठा स्पष्टतः प्रजा के अपनी राजी से सहयोग करने से बनती है और यदि हमें गुलाम बनाये रखने में, सरकार के साथ सहयोग करना गलत है तो हमारे लिए जरूरी है कि हम उन संस्थाओं से अपना नाता तोड़ लें जिनके साथ हमारा सहयोग अत्यन्त स्वेच्छित माना जाता था। किसी भी राष्ट्र की आशा उसके नौजवान होते हैं। मैं मानता हूं कि जैसे ही हमें मालूम हुआ कि सरकार की पद्धति एकदम या मुख्यतः बुरी है, तो हमारे लिए बच्चों का उसके साथ सम्बन्ध रखना पाप-पूर्ण हो उठा।

मेरी इस मान्यता की पूर्णता के विरुद्ध यह कोई तर्क नहीं है कि अधिकतर विद्यार्थियों का प्रारंभिक जोश ठंडा पड़ते ही वे स्कूलों में चले गये। उनका अपने कदम वापस लेना इस बात का सबूत है कि हम किस हद तक गिर गये हैं, न कि हमारे कदम के गलत होने का। अनुभव से हमें यह भी मालूम हुआ है कि राष्ट्रीय स्कूलों के खुलने पर बहुत अधिक विद्यार्थी उनमें भरती नहीं हुए। उनमें जो पक्के और सच्चे थे वे बिना राष्ट्रीय स्कूलों के खुले ही सरकारी स्कूलों से बाहर निकल आये। मेरी धारणा है कि ये पहले-पहल निकले विद्यार्थी उच्चतम कोटि की सेवा कर रहे हैं।

लेकिन कवि ने लड़कों को स्कूलों से हटाने का जो विरोध किया है वह वास्तव में असहयोग के सिद्धान्त के विरोध की ही एक कड़ी है। उन्हें प्रत्येक निषेधात्मक वस्तु का भय है। उनकी आत्मा धर्म के खंडन करनेवाले आदेशों के विरुद्ध विद्रोह करती दिखाई देती है। मैं उनका विरोध उन्हीं की बेजोड़ भाषा में रखता हूं। एक महानुभाव ने वर्तमान आन्दोलन के समर्थन में अक्सर मुझसे कहा है कि प्रारम्भ में किसी आदर्श को स्वीकार करने की अपेक्षा उसे अस्वीकार करने की भावना अधिक प्रबल होती है। यद्यपि मैं जानता हूं कि ऐसा ही होता है, फिर भी मैं इसे सत्य नहीं मान सकता।

भारत में ब्रह्मविद्या का उद्देश्य मोक्ष, मुक्ति है, जबकि बौद्ध धर्म का उद्देश्य निर्वाण है। मुक्ति, हमारा ध्यान सत्य के भावात्मक पहलू की ओर खींचती है और निर्वाण खंडनात्मक पहलू की ओर। इसलिए बुद्ध ने दुःख, दैन्य पर बल दिया है, जिनसे हमें छुटकारा पाना चाहिए और ब्रह्मविद्या का बल आनन्द पर है, जिसे हमें प्राप्त करना चाहिए। इन तथा इस प्रकार के दूसरे वाक्यों में पाठकों को कवि की मानसिक वृत्ति की कुंजी मिल जायगी। मेरी नम्र सम्मति में, किसी चीज़ को अस्वीकार करना उतना ही आदर्श है, जितना स्वीकार करना। असत्य को अस्वीकार करना उतना ही आवश्यक है, जितना सत्य को स्वीकार करना। सारे धर्म सिखाते हैं कि दो विरोधी शक्तियां हमपर अपना प्रभाव डालती हैं। मानव का प्रयत्न सनातन अस्वीकृति और स्वीकृति के अनुक्रम में निहित है। बुराई के साथ असहयोग उतना ही कर्त्तव्य है, जितना भलाई के साथ सहयोग। मैं साहस के साथ कह सकता हूं कि कवि ने निर्वाण को निषेधात्मक स्थिति कहकर बौद्ध धर्म के साथ अनजाने अन्याय किया है। मेरा दावा है कि मुक्ति उतनी ही निषेधात्मक स्थिति है जितना निर्वाण। शरीर के बन्धन से छुटकारा पाने से आनन्द की प्राप्ति होती है। अपने तर्क के इस अंश को समाप्त करते हुए मैं इस बात की ओर ध्यान खींचता हूं कि उपनिषदों (ब्रह्मविद्या) का अंतिम निष्कर्ष है नेति। उपनिषदों के रचयिताओं ने नेति-नेति कहकर ब्रह्म का सबसे अच्छा वर्णन किया है।

इसलिए मैं सोचता हूं कि कवि असहयोग के निषेधात्मक पक्ष से अकारण चौंक उठे हैं। हम लोगों ने न कहने की शक्ति खो दी है। सरकार से न कहना विश्वासघात अर्थात पाप माना जाता है। यह जान-बूझकर सहयोग करने से इन्कार करना ऐसे है, जैसे बीज बोने से पहले किसान द्वारा खेत से घास-कूड़ा निकालना। खेती के लिए निराई उतनी ही आवश्यक है जितनी बुवाई। वास्तव में जब फसल बढ़ती है तब निराई करनेवाला पांचा रोज काम में आता है। इस चीज़ को हर किसान जानता है। राष्ट्र का असहयोग सरकार को इस बात का निमंत्रण है कि वह राष्ट्र की शर्तों

पर उसके साथ सहयोग करे, जोकि हर राष्ट्र का अधिकार है और हर अच्छी सरकार का कर्त्तव्य। असहयोग राष्ट्र की चेतावनी है कि वह अब दूसरे के संरक्षण से सन्तुष्ट नहीं है। राष्ट्र ने हिंसा के अस्वाभाविक और अधार्मिक सिद्धान्त के स्थान पर असहयोग के निर्दोष, स्वाभाविक तथा धार्मिक सिद्धान्त को ग्रहण किया है और यदि भारत को कवि के स्वप्नों का स्वराज्य प्राप्त करना है तो वह अहिंसात्मक असहयोग द्वारा ही वैसा कर सकेगा। कवि संसार को अपना शांति का सन्देश दें और इस बात का भरोसा रक्खें कि यदि भारत अपनी प्रतिज्ञा के प्रति सच्चा रहा, तो वह अपने असहयोग द्वारा उनके सन्देश को मूर्त्त रूप प्रदान करेगा। कवि जैसी देशभक्ति के लिए उत्सुक हैं, असहयोग सार्थकता उसे प्रदान करेगा। जाग्रत और मुक्त भारत कराहती दुनिया को शांति तथा सद्भाव का सन्देश देगा। असहयोग एक ऐसा मंच तैयार करने के लिए चलाया गया है, जिसपर खड़े होकर भारत अपना सन्देश सुनायेगा।

यंग इंडिया,
१ जून, १९२१

: १५ :

न सन्त, न राजनीतिज्ञ

एक दयालु मित्र ने मुझे 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' के अप्रैल अंक की कतरन भेजी है, जो इस प्रकार है :

"श्री गांधी की एक सन्त के रूप में ख्याति है, लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि उनके निर्णयों पर बहुधा राजनीतिज्ञ गांधी का अधिक प्रभाव होता है। वह हड़तालों का बहुत उपयोग कर रहे हैं और इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके निर्देशन में हड़ताल आज के किसी भी सवाल के बारे में पढ़ों और बेपढों को एकसूत्र में बांधने का एक शक्तिशाली राजनैतिक अस्त्र बनती जा रही है। हड़ताल के साथ उसकी हानियां भी जुड़ी हैं। क्या उन गांधी को पूरा विश्वास है कि वह अहिंसा के उच्चतम आदेश, अर्थात् किसी को हानि न पहुंचाने का पालन कर रहे हैं? जलियांवाला बाग के गोली काण्ड की स्मृति-रक्षा के लिए उन्होंने जो प्रस्ताव रखा है, उससे एकता बढ़ने की सम्भावना नहीं है। यह एक बड़ी दुःखद घटना है, जो धोखे में हमारी सरकार के द्वारा हो गई, लेकिन क्या उसकी कटुता को याद रखना उचित है? क्या हम शांति के एक मन्दिर का निर्माण करके, विधवाओं और अनाथों की सहायता करके, और उन लोगों की आत्माओं की शांति की कामना करके, जिन्होंने बिना यह जाने कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं, अपने प्राण दे दिये, इस घटना की स्मृति को सुरक्षित नहीं रख सकते? दुनिया ऐसे राजनीतिज्ञों और कानूनी छलियों से भरी पड़ी है, जो देश-भक्ति के नाम पर मानव की आन्तरिक मृदुता को विषाक्त कर देते हैं और इसके परिणाम-स्वरूप युद्ध, झगड़े और जलियांवाला बाग जैसे निर्लज्ज हत्याकाण्ड होते हैं। क्या अब हमें ऐसे व्यापक सहजीवन के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए, जिसका उपदेश बुद्ध और ईसा ने दिया था, और दुनिया को हिल-मिलकर रहने और खुशहाल होने का अवसर नहीं देना चाहिए? श्री गांधी

ऐसे आन्दोलन के निश्चय ही अग्रदूत होंगे, ऐसा लगता है, लेकिन परिस्थितियां उन्हें प्रतिरोध तथा दलों की एकता सम्पादित करने के मार्ग पर चलने के लिए विवश कर रही हैं। वह संसार को सुसंगठित करने के वृहत्तर ध्येय को अब भी अपने हाथ में ले सकते हैं।"

मैंने पूरे-का-पूरा उद्धरण दे दिया है। सामान्यतया मैं अपनी और अपने तौर-तरीकों की आलोचना की ओर ध्यान नहीं देता, सिवा उस समय के जबकि मुझे अपनी भूल स्वीकार करनी होती है या आलोचित सिद्धान्तों को और अधिक वढ़ावा देना होता है। इस उद्धरण की ओर ध्यान देने का मेरे पास दोहरा कारण है, क्योंकि अपने प्रिय सिद्धान्तों को और अधिक स्पष्ट करने की मुझे आशा है, लेकिन मैं आलोचना करनेवाले के प्रति अपना आदर प्रकट करना चाहता हूं। मैं उन्हें जानता हूं और सालों से उन के चारित्रिक सौन्दर्य का प्रशंसक रहा हूं। आलोचक को मेरे राजनैतिक स्वरूप को देख-कर दुःख है, क्योंकि वह मुझसे सन्त होने की आशा करते हैं। मैं सोचता हूं कि वर्तमान जीवन में से 'सन्त', शब्द को हटा देना चाहिए। यह शब्द इतना पवित्र है कि उसे हल्के तौर पर हर किसीके लिए इस्तेमाल नहीं किया जा सकता, मुझ जैसे के लिए तो और भी नहीं, जो कि अपनेको सत्य का एक विनम्र खोजी मानता है, अपनी सीमाओं को जानता है, भूलें करता है, भूलें करके स्वीकार करने में नहीं हिचकता और इस बात को खुले आम मानता है कि एक वैज्ञानिक की भांति वह जीवन के कुछ सनातन सत्यों के बारे में प्रयोग करता है, लेकिन वह एक वैज्ञानिक होने का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपने तरीकों या प्रयोगों में वैज्ञानिक शुद्धता का ठोस प्रमाण नहीं दिखा सकता, जैसाकि आधुनिक विज्ञान चाहता है। लेकिन मैं संतपन को छोड़कर यद्यपि आलोचक की आशाओं को भंग करता हूं, तथापि मैं चाहूंगा कि वह मेरे इस उत्तर से अपने दुःख के भाव को त्याग दें कि मेरे किसी एक भी निर्णय पर मेरे अन्दर का राजनीतिज्ञ कभी हावी नहीं रहा और यदि मैं राजनीति में भाग लेता दिखाई देता हूं तो केवल इस-लिए कि राजनीति ने सांप की कुण्डली की तरह आज हमें चारों ओर से

घेर रक्खा है और हम कितनी ही कोशिशें क्यों न करें, उससे निकल नहीं सकते। इसलिए मैं सांप से लड़ना चाहता हूं, जैसाकि मैं कमोवेश कामयाबी के साथ जान-बूझकर सन १८६४ से लड़ता आ रहा हूं और अनजाने, जैसा कि अब मुझे पता चला है, जबसे मैंने होश संभाला है तभी से लड़ता आ रहा हूं। चूंकि मैं अपने चारों ओर गरजते तूफान के शोर में भी शांति से रहना चाहता हूं, इसलिए नितांत स्वार्थ भाव से मैं राजनीति में धर्म का समावेश करके अपने और अपने मित्रों के साथ प्रयोग कर रहा हूं। धर्म से मेरा क्या तात्पर्य है, यह मैं समझा दूं। जिस धर्म को मैं दूसरे सब धर्मों से निश्चय ही अधिक मूल्यवान मानता हूं, वह हिन्दू धर्म नहीं है, बल्कि वह धर्म है, जो हिन्दू धर्म से कहीं ऊंचा है, जो मनुष्य के स्वभाव तक को बदल देता है, जो मनुष्य के अन्तर को सत्य के साथ अटूट रूप से बांध देता है और जो मनुष्य को सदा पवित्र बनाता है। मनुष्य के स्वभाव का यह एक ऐसा स्थायी तत्व है, जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए सबकुछ करने को तैयार रहता है और आत्मा को उस समय तक बहुत ही बेचैन बनाये रखना है, जबतक कि उसे अपने स्वरूप का ज्ञान न हो जाय, वह अपने स्रष्टा को जान न ले और स्रष्टा तथा अपने बीच के सच्चे सम्बन्ध को समझ न ले।

इसी धार्मिक भावना से मुझे हड़ताल की सूझ हुई। मैं यह दिखाना चाहता था कि अक्षर-ज्ञान से भारत में आत्मिक चेतना या पढ़े-लिखों में एकता उत्पन्न नहीं होगी। ६ अप्रैल १९१९ को हड़ताल से सारा भारत आलोकित हो उठा था, मानो जादू हो गया हो, और यदि शैतान ने उस सरकार के मन में भय का संचार न कर दिया होता, जो अपने अन्याय को जानती थी और सरकार के विरुद्ध पूर्ण अविश्वास के कारण उन लोगों को भड़काकर कुछ न कर दिया होता, जो उसके लिए तैयार थे, तो १० अप्रैल का विस्फोट न होता और भारत इतना ऊंचा उठ गया होता, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। जन-सामान्य ने हड़ताल को न केवल सच्ची धार्मिक भावना से अंगीकार किया, अपितु उसे कई एक सीधी कार्रवाइयों की भूमिका बनाने का इरादा रक्खा।

लेकिन मेरे आलोचक तो सीधी कार्रवाही की निन्दा करते हैं, क्योंकि वह कहते हैं, "उससे एकता सम्पादित नहीं होती।" मैं उनसे सहमत नहीं हूं। बिना सीधी कार्रवाही के इस दुनिया में कुछ भी नहीं किया जा सकता। मैंने "निष्क्रिय प्रतिरोध" शब्द को छोड़ दिया था, क्योंकि वह अपर्याप्त था और वह कमज़ोर का हथियार माना जाता था। दक्षिण अफ्रीका में सीधी कार्रवाही का ही प्रभाव पड़ा और इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि जनरल स्मट्स की भी अक्ल ठिकाने आ गई। वह सन् १९०६ में भारतीय आकांक्षाओं के घोर विरोधी थे। सन् १९१४ में संघ की कानून की पोथी से उस अपमानजनक कानून को हटाकर उन्होंने गर्व का अनुभव किया, जिसके विषय में उन्होंने सन् १९०९ में लार्ड मार्ले से कहा था कि वह कदापि नहीं हटाया जा सकेगा। क्योंकि दक्षिण अफ़्रीका उस कानून का रद्द किया जाना कभी सहन न करेगा, जो ट्रांसवाल की विधान-सभा में दो-बार पास हो चुका है। लेकिन इससे अधिक विशेष बात यह है कि आठ वर्ष तक जो सीधी कार्रवाही चली, उसकी बाद में न केवल कटुता ही शेष नहीं रही, बल्कि वे ही भारतीय, जिन्होंने जनरल स्मट्स से डटकर लड़ाई की थी, सन १९१५ में जनरल स्मट्स के झण्डे के नीचे इकट्ठे हो गए और पूर्व अफ़्रीका में उनकी अधीनता में लड़े। यह चम्पारन में सीधी कार्रवाही ही थी, जिसने लम्बे समय से चली आती शिकायत को दूर किया। जबकि व्यक्ति निर्योग्यता अथवा पीड़ा का शिकार हो और उन्हें खुशी-खुशी दूर होते देखना चाहता हो, उस समय कमजोरी से झुक जाने से न सिर्फ एकता ही सम्पादित नहीं होती, बल्कि उससे दुर्बल पक्ष और क्रुद्ध हो जाता है और विस्फोट का अवसर जुटाने के लिए तयार हो जाता है। दुर्बल पक्ष के साथ मिलकर उसे सीधी, मजबूत, लेकिन हानिरहित कार्रवाही सिखाकर मैं उसे यह अनुभव कराना चाहता हूं कि वह मजबूत है और शारीरिक बल को चुनौती देने की उसमें क्षमता है। वह अपने अन्दर संघर्ष की शक्ति अनुभव करता है, अपने में फिर से आत्मविश्वास पाता है और यह जानकर कि इसका उपाय उसीके हाथ में है, वह अपने मन से बदले की

भावना को निकाल देता है और जिस अन्याय को दूर कराने के लिए वह प्रयत्नशील है, उसके दूर कर दिये जाने से सन्तुष्ट होना सीख लेता है।

इसी विचार-धारा के आधार पर चलते हुए मैंने जलियांवाला वाग के सम्बन्ध में स्मारक वनाने का सुझाव देने की हिम्मत की है। 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' में लेखक ने जिस प्रस्ताव को मुझपर आरोपित किया है, वह एक वार भी कभी मेरे दिमाग में नहीं आया। वह सोचता है कि मैं जलियांवाला वाग के गोलीकाण्ड का स्मारक वनाना चाहता हूं। किसी भी दुष्कर्म की स्मृति को स्थायी वनाने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। मैं साहस के साथ कहता हूं कि अपनी क्षमता को प्राप्त करने से पहले इस प्रकार की दुर्घटना फिर होगी और मैं निर्दोष मृतकों की स्मृति को सुरक्षित रखकर राष्ट्र को उसके लिए तैयार करूंगा। विधवाओं तथा अनाथों की सहायता की गई है और की जा रही है, लेकिन यदि हम निर्दोष रक्त से पवित्र हुई भूमि को प्राप्त नहीं करेंगे और उसपर उपयुक्त स्मारक का निर्माण नहीं करेंगे तो हम उन आत्माओं की शान्ति की कामना नहीं कर सकेंगे, जो विना कारण जाने मारी गईं। यदि मेरा वस चलेगा तो वह स्मारक दुष्कर्म की याद दिलाने का कार्य नहीं करेगा, वल्कि वह इस वात के लिए राष्ट्र को प्रोत्साहित करेगा कि अत्याचारी वनने की अपेक्षा असहाय, निहत्थे तथा पीड़ित के रूप में मर जाना कहीं अच्छा है। मैं चाहता हूं कि भावी पीढ़ियां याद रक्खें कि हम, जिन्होंने निर्दोष व्यक्तियों को मरते देखा था, कृतघ्न नहीं थे कि उनकी स्मृति को वनाये रखने से इन्कार करते। आखिर जिस भावना से स्मारक वनाया जायगा, वही उसके स्वरूप को निश्चित करेगी।

वुद्ध और ईसा ने जिस 'वृहत्तर सहजीवन' की सिखावन दी थी, वह क्या थी? वुद्ध ने निर्भीकता के साथ अपने शत्रुओं से टक्कर ली थी और अहंकारी पुजारी वर्ग के अभिमान को चूर कर दिया था। ईसा ने साहूकारों को यरूसलेम के मन्दिर से निकाल वाहर किया था और पाखण्डियों एवं दम्भियों को स्वर्ग का अभिशाप दिलवाया था। दोनों ही सीधी कार्रवाही के प्रवल पोषक थे, लेकिन वुद्ध और ईसा ने ताड़ना देते हुए भी अपने प्रत्येक

कार्य में अचूक दया और प्रेम प्रदर्शित किया। अपने शत्रुओं के विरुद्ध वह अंगुली तक न उठाते थे और जिस सत्य के लिए वे जीवित रहे उसे त्यागने की अपेक्षा अपनेको हँसते-हँसते निछावर कर देते। यदि बुद्ध के प्रेम की गरिमा पुजारी वर्ग को झुकाने में पर्याप्त सिद्ध न होती तो वह पुजारियों का विरोध करते हुए अपने प्राण दे देते। ईसा पूरे साम्राज्य की शक्ति को चुनौती देते हुए अपने सिर पर कांटों का ताज पहने हुए सूली पर मरे और यदि मैं अहिंसात्मक ढंग का प्रतिरोध खड़ा करता हूं तो मैं अपने आलोचक द्वारा उल्लिखित महान शिक्षकों का विनम्रतापूर्वक अनुसरण ही करता हूं।

अन्तिम वात यह है कि इस अनुच्छेद का लेखक मेरे द्वारा 'दलों की एकता' को लेकर झगड़ता है और चाहता है कि मैं संसार को संगठित करने के 'वृहत्तर ध्येय' को हाथ में लूं। मैंने एक वार, जव हम एक ही मकान में रहते थे, उनसे कहा था कि मैं उनसे अधिक विश्वप्रेमी हूं। मैं अपने उस कथन से अब भी बंधा हूं। जवतक कि मैं दलों में एकता स्थापित नहीं करूंगा तवतक मैं सारी दुनिया को एक सूत में कदापि नहीं वांध सकूंगा। टालस्टाय ने एक वार कहा था कि यदि हम अपने पड़ोसियों की पीठ पर से उतर जायं तो दुनिया हमारी और अधिक सहायता के बिना भी विल्कुल ठीक रहेगी, और यदि हम अपने निकटस्थ पड़ोसियों की केवल इतनी सेवा कर सकें कि उनका शोषण वंद कर दें तो इस प्रकार सही ढंग से संगठित किये गए दलों की परिधि उस समय तक वढ़ती जायगी जवतक कि उसमें अन्ततः सारे संसार का समावेश न हो जाय। उससे अधिक किसी भी मनुष्य में प्रयत्न करने या पाने की सामर्थ्य नहीं है। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" वचन आज भी उतना ही सत्य है, जितना युगों पहले था, जबकि वह पहली वार किसी अज्ञात ऋषि के मुंह से निकला था।

यंग इंडिया
१२ मई, १९२०

: १६ :

शास्त्र क्या कहते हैं?

नारायण चन्द्रावरकर और अन्य मित्रों ने एक लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने असहयोग की कड़े शब्दों में निन्दा की है और कहा है कि शास्त्र और इतिहास इसके विरुद्ध हैं। हस्ताक्षर-कर्ता लिखते हैं कि गीता, क़ुरान, बाइबिल और पारसियों के अवेस्ता, सब असहयोग को ग़लत मानते हैं। उन्होंने उनमें से कोई दृष्टान्त नहीं दिया है।

मेरा विचार है कि मैं भी अपने ढंग पर गीता का विद्यार्थी रहा हूं। मैंने उसमें असहयोग के सिद्धान्त को देखा है। गीता में देव और असुर के बीच संग्राम का वर्णन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अच्छाई और बुराई के बीच कभी मेल नहीं हो सकता। यदि हम उसकी सिखावन की शाब्दिक व्याख्या करें तो हम देखते हैं कि जब अर्जुन ने दुष्ट कौरवों के साथ युद्ध करने से इन्कार कर दिया, तब कृष्ण ने उसे युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार शाब्दिक व्याख्या की जाय तो गीता हमें न केवल अत्याचारी से असहयोग करना सिखाती है, अपितु उसे दण्ड देने की भी शिक्षा देती है। हालांकि गीता का भावार्थ दण्ड देना नहीं सिखाता, लेकिन उसकी एक-एक पंक्ति अच्छाई और बुराई के बीच संग्राम की बात कहती है।

जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार, एक दूसरे के विरोधी हैं, जिस प्रकार सर्दी और गर्मी साथ-साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार न्याय और अन्याय भी एक साथ नहीं रह सकते। यही कारण है कि हमारे बीच प्राचीन काल से यह परम्परा चली आती है कि चोट खाने पर एक आदमी दूसरे को छोड़ देता है। जब जनता अत्याचारी राजा को सहन

नहीं कर पाती, तो वह अपनी नाराजगी दिखाने के लिए उससे अलग हो जाती है। जब चीज़ें असह्य हो उठती थीं तो जनता अत्याचारी राजा के राज्य को छोड़ देती थी। ऐसे उदाहरण प्रायः देखने में आते हैं। आज भी दो देशों में यही चीज़ हो रही है। प्रह्लाद ने अपने दुष्ट पिता से असहयोग किया, मीरावाई ने अपने पति के साथ और नरसी मेहता ने अपनी विरादरी के सदस्यों के साथ। आज हम इन तीनों का आदर करते हैं। तुलसीदास ने भले और बुरे के बीच भेद का वर्णन किया और दिखाया कि उनके बीच मेल असम्भव है। इस प्रकार हिन्दू धर्म हमें सिखाता है कि भले-बुरे के मध्य मेल सर्वथा अवांछनीय है। जन्दअवेस्ता में अहुरमज्द और अहुरमन में हमेशा युद्ध होता रहता है, बाइबिल में खुदा और शैतान के बीच। अहुरमज्द अर्थात् ईश्वर, भलाई की चरम सिद्धि है, अहुरमन अर्थात् शैतान बुराई का प्रतीक है। ईसा मसीह वीर सत्याग्रही न होते, तो कुछ भी न होते। उन्होंने दंभियों, झूठों और मदान्ध-व्यक्तियों से असहयोग किया। उन्होंने नैतिक सिद्धान्तों की खातिर परिवारों को बांटने में संकोच नहीं किया और उन्होंने अकेले शक्तिशाली रोमन राज्य का विरोध किया। कुरान शरीफ में क्या बचता है। लोगों ने इस्लाम के बारे में ऐसे लिखा है, मानों वे पैग़म्बर के जीवन से अपरिचित थे। पैग़म्बर जबतक मक्का में रहे, वह अन्याय करनेवालों के साथ असहयोग करते रहे। एक ओर जहां मुसलमान स्वयं असहयोग के समर्थन में अपने धर्म की मिसालें देते हैं, वहां उनसे यह कहना कितना विचित्र है कि उनका धर्म इस असहयोग के विरुद्ध है।

इतिहास के प्रमाण भी असहयोग का प्रतिपादन करते हैं। सामान्य रूप से देखें, तो इतिहास भी युद्ध की कहानी है और युद्ध मात्र असहयोग के चरम दृष्टान्त हैं। एक पक्ष का दूसरे पक्ष से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना असहयोग का ही एक रूप है। युद्ध आसुरी असहयोग का ही परिचायक है। मैं नहीं सोचता कि जब मैं यह दावा करता हूं कि जिस असहयोग को मैं देश के सम्मुख रख रहा हूं वह दैवी असहयोग है, तो मैं कोई धृष्टता

करता हूं। जिस असहयोग में हिंसा रहती है, उसमें सफलता मिल सकती है या असफलता, लेकिन जिस असहयोग में केवल आत्म-वलिदान चाहिए, वह तो सफल ही हो सकता है। यह मेरी समझ से परे है कि ऐसे असहयोग का कोई विरोध कैसे कर सकता है, क्योंकि जो दैवी ढंग का असहयोग करता है, वह उस समय तक सहयोग नहीं करेगा जवतक कि उसे न्याय प्राप्त न हो जाय। जर्मनी ने सशस्त्र असहयोग किया इसलिए जव वे हार गये, तो उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया। रूस के दुखोवर लोगों ने निःशस्त्र असहयोग किया और इसलिए उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा। जव उनके लिए रूस में रहना असम्भव हो गया तो वहां के अत्याचारी शासकों के आगे झुकने की वजाय उन्होंने देश छोड़ दिया। आज वे कैनेडा में एक अत्यन्त प्रतिष्ठित समाज के रूप में रह रहे हैं। व्यक्तिगत असहयोग में व्यक्ति की जीत होती है, सामाजिक असहयोग में समाज की जीत होती है। इस प्रकार दैवी असहयोग में प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं जाता और न उसमें नैतिक दोष का सवाल ही उठता है। उसका थोड़ा-सा भी आचरण लाभदायक होता है और उसपर आचरण करने वाले को भारी खतरे से वचा देता है। अत्याचारी शासक द्वारा प्रदान की गई पदवी को त्यागकर उस असहयोग से त्यागी सुख का अनुभव करता है। यदि मनुष्यों की वहुत वड़ी संख्या ऐसा त्याग करे, तो सारा समाज अन्याय से सहयोग करना छोड़ देता है, अपने को निर्मल वनाता है और उस हद तक आरोग्य प्राप्त करता है।

सहयोग और असहयोग अनादि काल से चली आनेवाली नीतियाँ हैं न्यायी से सदा सहयोग और अन्यायी से असहयोग। हिन्द सरकार तथा व्रिटिश सरकार, दोनों ही इस समय एक के वाद एक अन्याय कर रही हैं। हिन्द सरकार अपने प्रारम्भिक अन्याय को ढंकने के लिए अनगिनत भूलें कर रही हैं। उसके साथ सहयोग करना पाप है, असहयोग करना कर्तव्य है।

असहयोग निष्क्रिय स्थिति नहीं है। वह वहुत ही सक्रिय अवस्था है,

शारीरिक प्रतिरोध अथवा हिंसा से भी कहीं सक्रिय-निष्क्रिय प्रतिरोध ग़लत नाम है। जिस रूप में मैंने असहयोग का प्रयोग किया है, उस रूप में वह अहिंसात्मक होना चाहिए और इसलिए उसमें दण्ड या बदले की भावना नहीं होनी चाहिए, न उसके पीछे ईर्ष्या-द्वेष। इसलिए इससे निष्कर्ष निकलता है कि मेरे लिए जनरल डायर की मदद करना और निर्दोष लोगों को गोली से उड़ाने में सहयोग करना पाप होगा। लेकिन यदि वह किसी शारीरिक रोग से पीड़ित हो, तो उसकी सेवा-सुश्रूषा करके उसकी जान बचा लेना मेरे लिए क्षमा अथवा प्रेम का कार्य होगा। इस सन्दर्भ में मैं सहयोग शब्द का प्रयोग नहीं कर सकता, जैसाकि शायद श्री नारायण करेंगे। मैं इस सरकार की, उसके दोषों के दूर करने की वृत्ति में, हज़ारों बार सहयोग दूंगा, लेकिन उस वृत्ति को बनाये रखने में मैं एक क्षण को भी उसकी सहायता नहीं करूंगा। अगर मैं उसकी दी हुई उपाधि को रखूं, तो मैं भूल करने का अपराध करूंगा। जलियांवाला के निर्दोष व्यक्तियों के लहू से सने हाथों से धन लेने की अपेक्षा, मेरे लिए भिखारी का पात्र कहीं अच्छा है। उन व्यक्तियों के मीठे शब्दों की अपेक्षा, जिन्होंने जानबूझकर मेरे सात करोड़ भाइयों की धार्मिक भावना को चोट पहुँचाई है, मेरे लिए जेल का वारण्ट कहीं श्रेयस्कर होगा।

मेरा गीता का अध्ययन श्री नारायण के गीता के अभ्यास से एकदम विपरीत है। मैं यह नहीं मानता कि गीता भलाई करने के लिए हिंसा की शिक्षा देती है। यह तो हमारे दिलों में होनेवाले द्वन्द्व का सर्वोत्तम वर्णन है। गीता के अपूर्व रचयिता ने, अपनी जान को खतरे में डालकर भी अपने कर्तव्य का पालन करने की सीख देने के लिए इस ऐतिहासिक घटना का उपयोग किया है। इसके द्वारा बिना फल की चिन्ता किये अपने कर्तव्य को पूरा करने की प्रेरणा मिलती है, क्योंकि हम लोगों की शारीरिक मर्यादा होने के कारण हम अपने कर्मों को छोड़कर दूसरों के कर्मों पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ हैं। गीता प्रकाश और अन्धकार की शक्तियों के बीच भेद करती है और यह बताती है कि उनमें मेल नहीं हो सकता।

मेरी विनम्र सम्मति में, ईसा राजनीतिज्ञों के सिरमौर थे। उन्होंने सीज़र के साथ वही किया, जिसके वह योग्य था। वह शैतान की खबर ले सकते थे। उन्होंने हमेशा उसे दूर रक्खा और एक बार भी कभी उसके जादू के आगे नहीं झुके। उनके समय की राजनीति में, लोगों को यह सिखा कर कि पुजारियों और पाखण्डियों के बहकावे में मत आओ, लोगों का हित सम्पादित करना था। उस समय सीज़र लोगों की जिन्दगी को नियन्त्रित करता था और ढालता था। आज सरकार का ढांचा कुछ ऐसा बना है कि उसका प्रभाव हमारे जीवन के प्रत्येक भाग पर पड़ता है। उससे हमारे अस्तित्व को ही खतरा है। इसलिए यदि हमें राष्ट्र को सुरक्षित रखना है तो हमें धार्मिक भाव से गवर्नरों के क्रिया-कलापों में दिलचस्पी लेनी चाहिए और उनके द्वारा नीति के नियमों को मनवाने का आग्रह करके उनपर नैतिक प्रभाव डालना ही चाहिए।

नवजीवन तथा यंग इंडिया
८ अगस्त, १९२०;
२५ अगस्त, १९२०

: १७ :

हिन्दू धर्म

मद्रास-प्रवास में मैंने अस्पृश्यता की समस्या पर बोलते हुए जितने जोरदार ढंग से अपने सनातनी हिन्दू होने के दावे को पेश किया है, उतना पहले कभी नहीं किया और फिर भी हिन्दू धर्म के नाम पर ऐसी बहुत-सी चीजें की जाती हैं, जो मुझे स्वीकार नहीं हैं। यदि मैं सचमुच वैसा नहीं हूं तो मुझे सनातनी हिन्दू या और किसी ढंग का हिन्दू कहलवाने की कोई इच्छा नहीं है और निश्चय ही ऐसी कोई इच्छा तो है ही नहीं कि मैं एक महान धर्म की आड़ लेकर किसी सुधार या बुराई का समावेश करूं।

अतः मेरे लिए आवश्यक है कि मैं सनातन धर्म का जो अर्थ लगाता हूं उसे एक बार अन्तिम रूप से स्पष्ट कर दूं। मैं सनातन शब्द का प्रयोग उसके स्वाभाविक अर्थ में करता हूं।

मैं अपनेको सनातनी हिन्दू कहता हूं क्योंकि:

१. मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और हिन्दू धर्मग्रन्थों के नाम पर प्रचलित सारे साहित्य में विश्वास रखता हूं और इसलिए अवतार और पुनर्जन्म को भी मानता हूं।

२. मैं वर्णाश्रम में उस रूप में विश्वास रखता हूं, जो मेरे विचार से विशुद्ध वैदिक है, लेकिन आजकल के प्रचलित स्थूल रूप में नहीं।

३. मैं मूर्ति-पूजा में अविश्वास नहीं करता।

पाठक इस बात की ओर ध्यान देंगे कि मैंने वेदों अथवा अन्य धर्म-ग्रन्थों के सन्दर्भ में जानबूझ कर ईश्वरीय उद्गम शब्द का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि मैं ऐसा नहीं मानता कि केवल वेद अपौरुषेय, ईश्वरीय हैं। मैं

वाइविल, कुरान और जेन्द अवेस्ता को भी उतना ही ईश्वर-प्रेरित मानता हूं, जितना वेदों को। हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में मेरा विश्वास यह अपेक्षा नहीं रखता कि मैं प्रत्येक शव्द और प्रत्येक श्लोक को ईश्वर-प्रेरित मानूं। न मैं ऐसा दावा करता हूं कि मैंने इन अद्भुत ग्रन्थों को स्वयं पढ़कर ज्ञान प्राप्त किया है। लेकिन इतना दावा तो मैं अवश्य करता हूं कि धर्म-ग्रन्थ जो आवश्यक शिक्षा देते हैं, उसे मैं जानता हूं और उसका अनुभव करता हूं। उनकी चाहे जितनी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की जाय, अगर वह विवेक अथवा नैतिक वुद्धि के विरुद्ध है तो मैं उसके वन्धन को स्वीकार करने को तैयार नहीं हूं। वर्तमान शंकराचार्य और शास्त्रियों के हिन्दू धर्म की सही व्याख्या देने के किसी भी दावे का यदि वे ऐसा दावा करते हैं, तो मैं जोरदार शव्दों में खण्डन करता हूं। इसके विपरीत मैं मानता हूं कि नए ग्रन्थों का हमारा वर्तमान ज्ञान वहुत ही अव्यवस्थित दशा में है। हिन्दुओं के इस सूत्र में मेरा पूर्ण विश्वास है कि जिसने अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य में पूर्णता प्राप्त नहीं कर ली, जिसने धन-सम्पत्ति की आकांक्षा या उसके संग्रह की लालसा का त्याग नहीं कर दिया है, उसे शास्त्रों के रहस्य का ज्ञान नहीं होता। मैं गुरु की प्रथा में विश्वास करता हूं, लेकिन इस युग में लाखों व्यक्तियों को गुरु के विना रहना होगा, क्योंकि पूर्ण पवित्रता और पूर्ण ज्ञान का संयोग मिलना दुर्लभ वस्तु है। किन्तु इससे किसीको यह मानकर हताश नहीं होना चाहिए कि वह अपने धर्म के सत्य को कभी जान ही नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक महान धर्म के सत्य की भांति हिन्दू धर्म के वुनियादी सिद्धान्त सनातन हैं और उन्हें आसानी से समझा जा सकता है। हर हिन्दू ईश्वर और उसकी अद्वितीयता, पुनर्जन्म और मोक्ष को मानता है।

मेरी राय में वर्णाश्रम-धर्म मानव-प्रकृति की एक सहज विशेषता है और हिन्दू धर्म ने केवल इतना किया है कि उसे शास्त्र का रूप दे दिया है। वर्णाश्रम का सम्वन्ध जन्म से है। कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने वर्ण नहीं वदल सकता। अपने वर्ण को न मानना पैतृक नियमों का अमान्य

करना है। लेकिन असंख्य जातियों में विभाजन को इस सिद्धान्त के साथ मनमानी करना माना जायगा। चार विभाग पर्याप्त हैं।

मैं नहीं जानता कि दूसरी जाति के लोगों के साथ खाने-पीने या ब्याह-शादी करने से जरूरी तौर पर जन्म से मिला दर्जा छिन जाता है। चार वर्ण लोगों के व्यवसाय को निर्धारित करते हैं, सामाजिक समागम को प्रतिबन्धित या नियमित नहीं करते। ये वर्ण लोगों के कर्तव्य का निर्धारण करते हैं, किसीको कोई विशेष अधिकार नहीं देते। मैं मानता हूं कि अपने को ऊंचा और दूसरे को नीचा दर्जा देना हिन्दुत्व की सहज प्रकृति के विरुद्ध है। सबका जन्म ईश्वर की सृष्टि की सेवा करने के लिए हुआ है—ब्राह्मण को अपने ज्ञान से सेवा करनी है, क्षत्रिय को सुरक्षा की अपनी शक्ति से, वैश्य को अपनी व्यापारिक क्षमता से और शूद्र को शारीरिक श्रम से। पर इसका मतलब यह नहीं है कि ब्राह्मण, उदाहरण के रूप में, शारीरिक श्रम से या अपनी और दूसरों की रक्षा के कर्तव्य से मुक्त हो गया। ब्राह्मण का जन्म होने से वह मुख्यत: ज्ञानी होता है और अपनी वंश-परम्परा और प्रशिक्षण की दृष्टि से दूसरों को ज्ञान देने के लिए सबसे उपयुक्त है। इसी प्रकार शूद्र जो ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उससे उसे रोकनेवाली कोई चीज नहीं है। इतना अवश्य है कि वह अपने शरीर से ही सर्वोत्तम सेवा करेगा और उसे दूसरे लोगों से उनकी सेवा करने के विशेष गुणों के कारण ईर्ष्या करने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन अगर कोई ब्राह्मण अपने ज्ञान के अधिकार से दूसरों से अपनेको ऊंचा मानता है तो वह पतित होता है और सचमुच उसे कोई ज्ञान नहीं है। यही बात दूसरों के साथ है, जो अपने विशिष्ट गुणों के बल पर अभिमान करते हैं। वर्णाश्रम आत्म-संयम है और शक्ति का रक्षण और उसका सुव्यवस्थित उपयोग।

इस प्रकार यद्यपि वर्णाश्रम में आपसी खान-पान अथवा ब्याह-शादी में कोई बाधा नहीं पड़ती, फिर भी हिन्दू धर्म विभिन्न जातियों के खान-पान और विवाह-सम्बन्धों को बड़े जोरों से हतोत्साहित करता है। हिन्दू धर्म आत्म-संयम से पराकाष्ठा तक पहुंचा है। इस धर्म का मूल भाव

निस्सन्देह आत्मा की मुक्ति के लिए ऐहिक सुख का त्याग है। अपने पुत्र के साथ भोजन करना किसी हिन्दू के कर्तव्य का अंग नहीं है और पत्नी का चुनाव एक विशेप वर्ग तक सीमित रखकर वह दुर्लभ आत्म-संयम वरतता है। हिन्दू धर्म मोक्ष के लिए विवाहित जीवन को किसी प्रकार भी आवश्यक नहीं मानता। जन्म की तरह विवाह भी पतन की निशानी है। मोक्ष जन्म से और इसलिए मृत्यु से भी छुटकारा है। विभिन्न वर्गों के आपसी विवाह और खान-पान पर पावन्दी लगाना तीव्र आत्मिक विकास के लिए आवश्यक है। लेकिन इस पावन्दी का पालन वर्ण की कसौटी नहीं है। यदि कोई ब्राह्मण अपने ज्ञान के वल पर सेवा करने के कर्तव्य से विमुख नहीं हो गया है तो अपने शूद्र भाई के साथ भोजन करके भी वह ब्राह्मण ही रहेगा। मैंने जो कुछ कहा है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि विवाह तथा भोजन-विपयक संयम जातीय श्रेष्ठता की भावना पर निर्भर नहीं है। जो हिन्दू अपनेको श्रेष्ठ मानकर दूसरे के साथ भोजन करने से इन्कार करता है, वह अपने धर्म को गलत रूप में पेश करता है।

दुर्भाग्य से आज हिन्दू धर्म केवल खाने-न-खाने तक ही सीमित दिखाई देता है। एक वार एक मुसलमान के घर मैंने एक टोस्ट खा लिया, तो एक धर्मनिष्ठ हिन्दू अवाक रह गये। मैंने देखा कि मुझे एक मुसलमान मित्र द्वारा दिये प्याले में दूध डालते देखकर उन्हें दुःख हुआ, लेकिन जव उन्होंने मुझे एक मुसलमान के हाथ का टोस्ट खाते देखा तो उनके दुःख का अन्त न रहा। यदि हिन्दू धर्म इन नियमों के विस्तृत जाल में फंस गया कि क्या खाना चाहिए और किसके साथ खाना चाहिए तो वह अपने सार-तत्व को खोने के खतरे में पड़ जायगा। मादक पेय और द्रव्यों के सेवन से तथा भांति-भांति के खाद्य पदार्थों से, विशेषकर मांसाहार से परहेज करना निस्सन्देह आत्मा के विकास में बहुत सहायक है, लेकिन अपने-आपमें वह कोई सिद्धि नहीं है। मांसाहार करनेवाले और सवके साथ खाने-पीनेवाले, परन्तु ईश्वर से डरकर चलनेवाले बहुत-से लोग उस व्यक्ति की

अपेक्षा मुक्ति के अधिक निकट हैं, जो मांसाहार तथा अन्य बहुत-सी बातों में तो धार्मिक निष्ठा से परहेज करता है, लेकिन अपने हर काम में ईश्वर की अवहेलना करता है।

जैसे अपनी पत्नी के विषय में अपनी भावना का वर्णन करना मेरे लिए कठिन है, वैसे ही हिन्दू धर्म के बारे में भी। पत्नी का मुझपर जितना असर होता है, उतना संसार की किसी स्त्री का नहीं हो सकता। यह नहीं कि उसमें दोष नहीं है। मैं तो कहूंगा कि मुझे स्वयं उसमें जितने दोष दिखाई देते हैं, उससे भी अधिक दोष उसमें होंगे लेकिन उसके साथ एक अटूट बन्धन का मुझे अनुभव होता है। हिन्दू धर्म में दोष और सीमाएं होते हुए भी मेरी यही भावना उसके प्रति है। हिन्दू धर्म की दो ही पुस्तकें हैं, जिन्हें जानने का मैं दावा कर सकता हूं। वे हैं गीता और तुलसीदास की रामायण। उनका संगीत जितना मुझे विभोर करता है, उतना और कुछ नहीं। एक बार मुझे ऐसा लगा कि मेरी अन्तिम घड़ी आ पहुंची है, तब मुझे गीता से ही सान्त्वना मिली थी। आजकल हिन्दुओं के बड़े-बड़े मन्दिरों में जो बुराई फैली हुई है, उसे मैं जानता हूं, लेकिन मैं उनके अकथनीय दोषों के बावजूद उन्हें प्रेम करता हूं। उनमें मैं एक विशेष आकर्षण का अनुभव करता हूं। वैसा आकर्षण मुझे और किसीमें अनुभव नहीं होता। मैं आदि से अन्त तक सुधारक हूं। लेकिन अपने उत्साह के अतिरेक में हिन्दू धर्म की असली चीजों को मैं छोड़ दूं, ऐसा नहीं है। मैंने कहा है कि मैं मूर्ति-पूजा में अविश्वास नहीं करता। किसी मूर्ति को देखकर मेरे अन्दर श्रद्धा का भाव पैदा नहीं होता, लेकिन मैं मानता हूं कि मूर्तिपूजा मनष्य के स्वभाव का अंग है। प्रतीकों के प्रति हमारा सहज आकर्षण होता है, नहीं तो दूसरे स्थानों की अपेक्षा गिरजाघर में कोई अधिक सुस्थिर क्यों होता है? मूर्तियाँ पूजा में सहायक होती हैं। कोई भी हिन्दू मूर्ति को ईश्वर नहीं समझता। मैं मूर्तिपूजा को पाप नहीं मानता।

मैंने जो कुछ कहा है, उससे स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म कोई वर्जनशील धर्म नहीं है। उसमें दुनिया के सभी पैगम्बरों की पूजा के लिए स्थान है।

वह साधारण अर्थ में प्रचार का उद्देश्य रखनेवाला धर्म नहीं है। वेशक, उसने वहुत-सी जातियों को अपने अन्दर समा लिया है, लेकिन यह विकास की अदृश्य क्रिया के रूप में हुआ है। हिन्दू धर्म सभी लोगों को अपने-अपने विश्वास या धर्म के अनुसार ईश्वर की उपासना करने को कहता है और इसलिए वह सव धर्मों के साथ सुमेल रखता है।

यंग इंडिया
६ अक्तूबर, १९२१

: १८ :

हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म

आपमें से वहुतों को शायद पता नहीं है कि ईसाइयों से, तथाकथित ईसाइयों से नहीं, वल्कि सच्चे ईसाइयों से, मेरा सम्वन्ध सन् १८८९ से है, जवकि मैं लन्दन में रहता था और जैसे-जैसे साल गुजरते गये हैं, वह सम्वन्ध और पक्का होता गया है। दक्षिण अफ़्रीका में, जहाँ मेरे चारों ओर रूखा वातावरण था, मैंने सैकड़ों ईसाई मित्र वना लिये थे। मैं दक्षिण अफ़्रीका जनरल मिशन के निदेशक स्वर्गीय श्री स्पेंसर वाटन के सम्पर्क में आया था और वाद में महान धर्म-तत्वज्ञ श्री ए० मरे तथा दूसरे और लोगों से भी मेरा सम्वन्ध जुड़ा था।

इसलिए इस सन्ध्या को इतने मिशनरियों के साथ मेरा परिचय किसी भी भांति नया नहीं है। मेरे जीवन में एक ऐसा भी समय था, जवकि मेरे एक वहुत ही सच्चे और नजदीकी मित्र की, जो कि वड़े और भले शान्ति-वादी थे, मुझपर निगाह थी। वह सोचते थे कि मैं इतना नेक हूं कि मुझे ईसाई वनने में कोई आपत्ति नहीं होगी। मुझे इस वात का अफसोस रहा कि मैंने उन्हें निराश किया। दक्षिण अफ़्रीका से मेरे एक मिशनरी मित्र अव भी लिखते हैं और मुझसे पूछते हैं, "कहिए, आपका क्या हाल है?" मैंने हमेशा इन मित्रों को वताया है कि जहांतक मेरी जानकारी है, सव ठीक है। यदि यह मित्र चाहते थे कि मैं प्रार्थना करूं तो मैंने उन्हें समझाया कि प्रतिदिन मेरी कोठरी के वन्द दरवाजे के भीतर से मेरी हार्दिक प्रार्थना उस सर्वशक्तिमान के पास पहुंचती थी कि वह मुझे प्रकाश दिखावे और उस प्रकाश के पीछे चलने की मुझे सद्‌वुद्धि और हिम्मत दे।

अपने इन ईसाई मित्रों में से एक से मैंने जो वायदे किये थे, उनके पालन के लिए मैंने सोचा कि मेरा कर्तव्य है कि मैं भारतीय ईसाइयों में सबसे बड़े ईसाई, जैसा कि मुझे बताया गया कि वह थे, स्व० कालीचरन बनर्जी से मिलूं। मैं उनके पास गया। मैं आपको बता रहा हूं कि सच्चे मार्ग को ढूंढ़ निकालने में मेरी ओर से कोई कसर न रहे, इसके लिए मैंने कितनी गहरी खोज की। मैं उनके पास बिल्कुल खुले दिमाग और ग्रहण-शील मनोभाव लेकर गया और उनसे मिला भी अत्यन्त प्रभावशाली वातावरण में। मैंने देखा कि श्री बनर्जी तथा मेरे बीच बहुत-कुछ साम्य है। उनकी सादगी, उनकी विनम्रता, उनका साहस, उनकी सच्चाई, इन सब चीजों की मैंने बराबर सराहना की है। वह मुझसे जिस समय मिले, उनकी पत्नी मृत्यु-शैया पर थीं। आप उससे अधिक प्रभावोत्पादक दृश्य, उदात्त वायुमण्डल, की कल्पना नहीं कर सकते। मैंने श्री बनर्जी से कहा, "मैं आपके पास एक खोजी के रूप में आया हूं।" यह सन् १९०१ की बात है। मैंने कहा, "मैंने अपने कुछ बहुत ही प्रिय ईसाई मित्रों को पवित्र वचन दिया था कि मैं सच्चे प्रकाश को खोजने में कुछ भी उठा न रक्खूंगा। उसी वचन को पूरा करने के लिए आपके पास आया हूं।" मैंने उन्हें बताया कि मैंने अपने मित्रों को आश्वासन दिया था कि यदि मैं उस प्रकाश को देख सकूं तो कोई भी भौतिक लाभ मुझे उस प्रकाश से दूर नहीं रख सकेगा।

हमारे बीच हुई थोड़ी-सी चर्चा के विवरण देकर मैं आपका समय नहीं लेना चाहता। चर्चा बहुत अच्छी थी, बड़ी उदात्त थी। मैं वापस लौटा, मेरे मन में अफसोस नहीं था, खिन्नता या निराशा भी नहीं थी, लेकिन मुझे इस बात से दुःख हुआ कि श्री बनर्जी मेरा समाधान न कर सके। यह मेरा ईसाई धर्म को, जैसा कि वह मुझे बताया गया था, समझने का जान-बूझ-कर किया गया अन्तिम प्रयास था। आज मेरी स्थिति यह है कि यद्यपि मैं ईसाई धर्म में बहुत-सी बातों की सराहना करता हूं, फिर भी मैं कट्टर ईसाइयत के साथ अपनेको एकाकार करने में असमर्थ हूं। मैं पूरी विनय

के साथ आपसे कहता हूं कि हिन्दू धर्म ने, जैसा कि मैं उसे जानता हूं, मेरी आत्मा को पूर्णतः सन्तुष्ट किया है, वह मेरे समग्र जीवन में व्याप्त हो गया है और मैं भगवद्गीता और उपनिषद में उस शान्ति को पाता हूं, जो मुझे 'गिरि प्रवचन' में नहीं मिलती। यह नहीं कि गिरि प्रवचन में प्रतिपादित आदर्श का मैं मूल्य नहीं मानता, यह भी नहीं कि उसकी कुछ मूल्यवान शिक्षाओं का मुझपर गहरा प्रभाव नहीं पड़ा, लेकिन मुझे आपके सामने स्वीकार करना पड़ेगा कि जब-जब मेरे मन में संशय उत्पन्न होता है, जब निराशा सामने आ जाती है और जब क्षितिज पर मुझे प्रकाश की एक किरण भी दिखाई नहीं देती, तब मैं भगवद्गीता की शरण जाता हूं और मुझे ऐसा श्लोक मिल जाता है.जो मुझे सान्त्वना देता है और मैं फौरन दारुण दुःख के बीच मुस्कराने लगता हूं। मेरा जीवन बाहरी विपदाओं से भरा पड़ा है और यदि उन विपदाओं का मुझपर कोई प्रत्यक्ष या अमिट चिह्न नहीं छूटा है, तो इसका श्रेय भगवद्गीता की सिखावन को है।

ये सब बातें मैंने आपको पूरी तरह से यह स्पष्ट करने के लिए बताई हैं कि मेरी स्थिति क्या है, जिससे यदि आप चाहें तो मैं आपके साथ नज़दीक का सम्बन्ध रख सकूं। मुझे यह भी कह देना चाहिए कि मैंने बाइबिल और व्याख्याएं, तथा मित्रों द्वारा दी हुई ईसाई धर्म की अन्य पुस्तकों का पढ़ना बन्द नहीं किया, लेकिन मैंने अपने-आपसे कहा कि यदि मुझे बुद्धि द्वारा समाधान प्राप्त करना है तो मुझे दूसरे धर्मों के ग्रन्थों को पढ़ना और अपना चुनाव करना चाहिए। और मैंने कुरान की ओर ध्यान दिया। मैंने ईसाई धर्म से पृथक जूडा धर्म का अध्ययन किया। मैंने जो रास्ट्रियन धर्म का भी अध्ययन किया और इस निर्णय पर आया कि सारे धर्म सही हैं, लेकिन उनमें से प्रत्येक अपूर्ण हैं—प्रकृत तथा आवश्यक रूप में अपूर्ण; क्योंकि उनकी व्याख्या क्षुद्र मस्तिष्कों, कभी-कभी हमारे क्षुद्र हृदयों द्वारा की गई है और प्रायः ग़लत की गई है। मैंने दुख के साथ देखा कि सारे धर्मों में कुछ मूल सूत्रों की विविध, यहाँ तक कि विरोधी व्याख्याएँ हैं, और

मैंने अपने से कहा, "ये चीजें मेरे लिए नहीं हैं। यदि मैं अपनी आत्मा की संतुष्टि चाहता हूं तो मुझे स्वयं अपना मार्ग निकालना चाहिए। मुझे चुपचाप ईश्वर की आराधना करनी चाहिए और उसीसे मार्ग-दर्शन की प्रार्थना करनी चाहिए।" संस्कृत में एक सुन्दर श्लोक है, जिसका अर्थ है, "जब मनुष्य विल्कुल असहाय हो जाता है और विल्कुल दीन वन जाता है तभी ईश्वर सहायता करता है।" आपमें से कुछ तमिलनाडु से आये हैं। जब मैं तमिल का अध्ययन कर रहा था तो मैंने डॉ० पोप की एक पुस्तक में तमिल की एक कहावत पढ़ी थी, जिसका मतलब था—'ईश्वर असहायों की मदद करता है।' मैंने अपने अनुभवों की यह जीवन-गाथा इसलिए दी है कि आप लोग इसपर विचार करें।

आप मिशनरी लोग यह सोचकर भारत आते हैं कि यह अधर्मी लोगों की भूमि है, मूर्तिपूजकों की और उन व्यक्तियों की, जो ईश्वर को नहीं जानते। महान ईसाई धर्मज्ञ विशप हेवर ने दो पंक्तियां लिखी हैं, जो मुझे हमेशा सालती हैं। 'जहाँ प्रत्येक दृश्य आनन्द देता है और केवल मात्र मनुष्य दुष्ट है।' मैं चाहता हूं कि ये पंक्तियाँ न लिखी गई होतीं। सारे भारत में घूमने में मेरा अपना अनुभव उल्टा हुआ है। मैं सत्य की अनवरत खोज में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक गया हूं और विना कोई पूर्वाग्रह रक्खे मैं नहीं कह सकता कि इस सुन्दर भूमि में, जिसे महान गंगा, ब्रह्मपुत्र और जमना सींचती हैं, मनुष्य दुष्ट है। वह दुष्ट नहीं है। वह सत्य का उसी प्रकार खोजी है, जिस प्रकार आप और मैं हूं, शायद हमसे भी ज्यादा। इसपर से मुझे एक फ़्रांसीसी पुस्तक का ध्यान आता है, जिसे एक फ़्रांसीसी मित्र ने मेरे लिए अनुवाद किया था। उसमें ज्ञान की खोज के कल्पित अभियान का विवरण है। एक टोली भारत में उतरी और उसे सत्य तथा मूर्तिमान परमेश्वर मिल गया। मैं आपसे कहता हूं कि अछूतों की ऐसी वहुत-सी कुटियां हैं, जिनमें आपका निश्चय ही ईश्वर से साक्षात्कार होगा। वे तर्क नहीं करते, लेकिन अपना यह अटल विश्वास रखते हैं कि ईश्वर है। वे ईश्वर पर उसकी सहायता के लिए निर्भर करते

हैं और उन्हें सहायता मिलती भी है। भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक इन उच्च अछूतों के विषय में बहुत-सी कहानियां कही जाती हैं। हो सकता है कि उनमें कुछ दुष्ट हों, पर उनमें मानवता के सर्वोत्तम नमूने मिलते हैं। लेकिन क्या मेरा अनुभव केवल अछूतों तक ही समाप्त हो जाता है? नहीं, मैं आपको बताता हूं कि यहां ऐसे गैर-ब्राह्मण और ब्राह्मण हैं, जो मानवता के उतने ही सुन्दर नमूने हैं, जितने आपको इस संसार में दूसरे स्थानों पर मिलेंगे। आज भारत में ब्राह्मण हैं, जो आत्मत्याग, दिव्यता और विनम्रता की मूर्ति हैं। ऐसे भी ब्राह्मण हैं, जो अछूतों से बिना किसी पुरस्कार की अपेक्षा के, लेकिन कट्टरता के मेल को दूर करने के लिए अन्त्यजों की सेवा में जी-जान से लगे हैं। ऐसा करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि अछूतों की सेवा करके वे ईश्वर की सेवा करते हैं। मैं अपने अनुभव से अध्याय और श्लोक उद्धृत कर सकता हूं। ये तथ्य मैं आपके सामने बड़ी नम्रता से केवल इसीलिए रख रहा हूं कि जिससे आप इस भूमि को, जिसकी सेवा करने के लिए आप आये हैं, अधिक अच्छी तरह से समझ सकें। आप यहां भारत के लोगों की पीड़ा को जानने और दूर करने के लिए आये हैं, लेकिन मैं आशा करता हूं कि आप लोग कुछ लेने की भावना से भी आये हैं। यदि भारत कुछ दे सकता है तो आप अपने कानों, आंखों और दिलों को बन्द नहीं करेंगे, बल्कि कानों, आँखों और सबसे अधिक अपने दिलों को खोलकर इस भूमि में जो कुछ अच्छा है, उसे ग्रहण करेंगे। मैं आपको आश्वासन देता हूं कि भारत में बहुत-कुछ अच्छा है। इस विश्वास से अपनेको सन्तोष मत दीजिए कि सन्त जान के प्रसिद्ध पद का पाठ करने मात्र से कोई ईसाई बन जायगा। यदि मैंने बाइबिल को सही-सही पढ़ा है, मैं ऐसे बहुत-से मनुष्यों को जानता हूं, जिन्होंने कभी ईसामसीह का नाम नहीं सुना या जिन्होंने ईसाई धर्म की औपचारिक व्याख्या को अस्वीकार कर दिया है। यदि ईसामसीह सशरीर आज हमारे बीच आवें तो उन व्यक्तियों को हममें से बहुतों की अपेक्षा कहीं अधिक अपना मानेंगे। इसलिए मैं आपसे कहता हूं कि इस समस्या पर खुले दिल और नम्रता से विचार करें।

आज सवेरे मैं कुछ मिशनरियों से बात कर रहा था। मैं उस वातचीत को यहां नहीं देना चाहता। लेकिन मैं यह जरूर कहना चाहता हूं कि वे मानवता के उत्तम नमूने हैं। वे मुझे ग़लत नहीं समझना चाहते थे, लेकिन मैंने कोई डेढ़ घण्टा लगाकर उन्हें समझाने की कोशिश की कि मैंने जो कुछ लिखा है उसे लिखने में अंग्रेजों के प्रति कोई दुर्भावना या घृणा नहीं रही। मैंने अपने मिशनरी मित्रों से कहा, "आप लोग भले हैं, पर आपने उन लोगों से अपनेको अलग कर लिया है, जिनकी आप सेवा करना चाहते हैं।" दार्जिलिंग के मिशनरी लेंग्वेज स्कूल में, मैंने जो कुछ कहा था उसे आपके सामने प्रस्तुत किये विना मैं नहीं रह सकता। लार्ड साल्सवरी से मिशनरियों का एक शिष्टमण्डल चीन के सम्बन्ध में मिला और यह शिष्टमण्डल संरक्षण चाहता था। मुझे ठीक-ठीक शब्द तो याद नहीं हैं, लेकिन लार्ड साल्सवरी ने जो उत्तर दिया, उसका सार मैं आपको वताता हूं। उन्होंने कहा, "महानुभावो, यदि आप ईसाई धर्म का सन्देश देने के लिए चीन जाना चाहते हैं तो भौतिक वल की सहायता मत मांगिए। अपने प्राण हथेली पर लेकर जाइए और यदि चीन आपको मार डालना चाहता है तो सोचिए कि ईश्वर की सेवा में आपकी जान गई।" लार्ड साल्सवरी का कहना ठीक था। ईसाई मिशनरी भारत में भौतिक वल की छाया या आप कह सकते हैं कि भौतिक वल के संरक्षण में आते और उससे अभेद्य व्यवधान उत्पन्न हो जाता है।

यदि आप मुझे आंकड़े देकर वतावें कि इतने अनाथों को ईसाई धर्म में ले लिया गया है तो मैं आपकी वात को मान लूंगा, लेकिन इससे मेरा समाधान नहीं होता कि यह आपका मिशन है। मेरी राय में मिशन तो इससे कहीं ऊंचा होता है यदि आप भारत में इन्सान खोजना चाहते हैं और उसके लिए आप इच्छुक हैं तो आपको एकान्त झोपड़ियों में जाना होगा, कुछ देने के लिए नहीं, शायद कुछ लेने के लिए। मैं भारत के मिशनरियों और यूरोपियनों का सच्चा मित्र होने का दावा करता हूं और उस नाते मैं जो अपने अन्तर में अनुभव करता हूं, वही आपसे कहता हूं। भारत की

जनता के साथ एकाकार होने के लिए मुझे आपमें ग्रहणशीलता, नम्रता, उत्सुकता का अभाव दिखाई देता है। मैंने आपसे दिल खोलकर सीधी बात की है। ईश्वर करे, आपके दिलों पर उसकी अनुकूल प्रतिक्रिया हो।

यंग इंडिया
६ अगस्त, १९२५

: १९ :

हिन्दू-मुस्लिम-एकता व्रत

रविवार, ६ अप्रैल को, विनय और प्रार्थना के दिन, सोनापुर मस्जिद के अहाते में हिन्दू और मुसलमानों की जो विराट सभा हुई थी, उसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का व्रत लेने का प्रस्ताव किया गया था, जैसाकि स्वदेशी के मामले में चौपाटी की सभा में किया गया था और दोनों ही अवसरों पर मुझे चेतावनी देनी पड़ी थी। कभी-कभी हम हर्ष-विभोर होकर आवेश में किसी काम को कर डालते हैं, वाद में उसके लिए पछताना पड़ता है। व्रत एक विशुद्ध धार्मिक कृत्य है, जो आवेश में नहीं लिया जा सकता। वह मन को शुद्ध और शान्त करके तथा ईश्वर को साक्षी रखकर ही लिया जा सकता है। स्वदेशी व्रत के सम्वन्ध में लिखते समय मैंने जो कहा था, वह अधिकांशत: यहां भी लागू होता है। साधारण संयम से जो काम सम्भव नहीं होते, वे व्रतों की सहायता से, जिनके लिए असामान्य संयम जरूरी होता है, सम्भव हो जाते हैं। इसलिए विश्वास किया जाता है कि व्रत ही हमें ऊपर उठा सकते हैं। यदि हिन्दू और मुसलमान जातियां आपस में मित्रता के सूत्र में बांधी जा सकें और यदि एक का दूसरे के प्रति ऐसा व्यवहार हो, जैसा मां-जाये भाइयों का होता है तो वह स्पृहणीय सिद्धि होगी। लेकिन इस एकता के चरितार्थ होने से पहले दोनों जातियों को भारी त्याग और अवतक के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा। उनमें से जव एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से वात करते हैं तो कभी-कभी इतनी अशिष्ट शव्दावली का प्रयोग करते हैं, जो दोनों के बीच के सम्बन्धों को कटु वना देती है। हिन्दू समाज में जब हम मुसलमानों के बारे में बातें

करते हैं तो अशोभनीय भाषा का इस्तेमाल करने में नहीं हिचकते और ऐसा ही मुसलमान अपने समाज में करते हैं। बहुतों का विश्वास है कि हिन्दू और मुसलमानों के रक्त में वैर समाया हुआ है और उसे दूर नहीं किया जा सकता। अनेक स्थानों पर हम देखते हैं कि दोनों जमातों में एक-दूसरे पर बड़ा अविश्वास होता है। वे एक-दूसरे से डरते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस विषम तथा हेय परिस्थिति में दिन-ब-दिन सुधार होता जा रहा है। काल बिना रुकावट के लगातार अपना काम कर रहा है और येन-केन-प्रकारेण हमें मिलकर रहना ही होगा। लेकिन व्रत लेने का मतलब यह है कि संयम की शक्ति द्वारा, जिसकी उपलब्धि की आशा समय के परिपक्व होने पर ही की जा सकती है, इस कार्य को जल्दी सम्पन्न कर दिया जाय। यह कैसे सम्भव है? हिन्दुओं, मेरा मतलब है कट्टर हिन्दुओं, की सभा होनी चाहिए और उसमें इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। हिन्दुओं की मुसलमानों से बराबर शिकायत है कि वे गाय का मांस खाते हैं और वे बकरीद के दिन जान-बूझ कर गाय का वध करते हैं। जबतक हिन्दू गाय को बचाने के लिए अपने मुसलमान भाइयों को मारने से हिचकेंगे नहीं तबतक हिन्दू-मुस्लिम एकता असम्भव है, क्योंकि मैं मानता हूं कि हमारी हिंसा के डर से मुसलमान गो-वध करना छोड़ देंगे, यह आशा करना व्यर्थ है। मेरा विश्वास नहीं है कि प्रतिदिन मरनेवाली गायों की संख्या में गोरक्षा-समितियों के प्रयास से तनिक भी कमी हुई है। ऐसा विश्वास करने का मेरे पास कोई कारण नहीं है। मैं अपनेको कट्टर हिन्दू मानता हूं और मेरी धारणा है कि जो हिन्दू धर्म का विवेकपूर्वक पालन करता है, वह गोरक्षा के लिए गो-वध करनेवाले को मारेगा नहीं। हिन्दुओं के लिए गाय को बचाने का केवल एक ही उपाय है और वह यह कि यदि वे गाय के वध को सहन नहीं कर सकते तो अपना बलिदान दे दें। यदि थोड़े भी प्रबुद्ध हिन्दू इस प्रकार अपना बलिदान करेंगे तो मुसलमान भाई गाय को मारना बन्द कर देंगे, इसमें मुझे शक नहीं। लेकिन यह सत्याग्रह है, न्याय है, जैसे मैं यदि अपने भाई से कोई

शिकायत दूर कराना चाहता हूं तो मुझे कुछ त्याग करना चाहिए, न कि उसे चोट पहुंचानी चाहिए। मैं अधिकार के रूप में इसकी मांग नहीं कर सकता। अपने भाई के विरुद्ध मेरा एक ही अधिकार है और वह यह कि मैं अपनेको ही निछावर कर दूं।

जब हिन्दुओं में इस प्रकार से पवित्र प्रेम की भावना का स्फुरण होगा तभी हिन्दू-मुस्लिम एकता की आशा की जा सकती है। जो बात हिन्दुओं पर लागू होती है, वही बात मुसलमानों पर भी लागू होती है। मुसलमानों के नेताओं को चाहिए कि वे आपस में मिलें और सोचें कि हिन्दुओं के प्रति उनका कर्तव्य क्या है। जब दोनों त्याग की भावना से प्रेरित होंगे, जब अपने अधिकारों के लिए दबाव डालने की अपेक्षा वे एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने का प्रयत्न करेंगे तभी दोनों जमातों के बीच दीर्घकाल से चले आ रहे भेद-भाव दूर होंगे। प्रत्येक को दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए और एकान्त में भी दूसरे का बुरा चाहने से बचना चाहिए। हमें दोनों जमातों के लोगों को एक-दूसरे के प्रति बुरी भाषा का प्रयोग करने से विनम्रतापूर्वक रोकना चाहिए। इस दिशा में गम्भीर प्रयास ही हमारे बीच के भेदभाव को मिटा सकता है। हमारे व्रत का तभी मूल्य होगा जब कि हिन्दू और मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में इस प्रयत्न में सम्मिलित होंगे।

मैं समझता हूं कि मैंने इस व्रत की गम्भीरता और महत्ता को काफी स्पष्ट कर दिया है। मैं आशा करता हूं कि इस शुभ अवसर पर, और वास्तव में यह अवसर शुभ ही है जबकि सारे देश में सत्याग्रह की लहर फैल रही है, हम सब एकता के इस व्रत को ले सकते हैं। इसके लिए यह भी जरूरी है कि प्रमुख हिन्दू और मुसलमान आपस में मिलें और इस सवाल पर गम्भीरता से विचार करके सार्वजनिक सभा में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास करें। यदि हम अपने वर्तमान प्रयासों को उत्साहपूर्वक जारी रखें तो यह सिद्धि अवश्य प्राप्त हो सकती है। मेरा विचार है कि व्यक्तिगत रूप में इस समय भी व्रत लिया जा सकता है और मैं उम्मीद करता हूं कि

प्रतिदिन बहुत-से लोग व्रत लेते रहेंगे। मेरी चेतावनी तो खुले आम लोगों के समूहों से व्रत लिवाने के बारे में है। यदि सामूहिक रूप में लोग व्रत लेते हैं तो मेरी विनम्र सम्मति में वह इस प्रकार होना चाहिए:

"ईश्वर को साक्षी रखकर हम हिन्दू और मुसलमान घोषित करते हैं कि हम एक-दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार करेंगे, जैसे एक ही माता-पिता के बच्चे करते हैं, हम भेदभाव नहीं रक्खेंगे, एक का दुःख दूसरे का दुःख होगा और उस दुःख को दूर करने में हम एक-दूसरे की सहायता करेंगे। हम एक-दूसरे के धर्म और धार्मिक भावना का आदर करेंगे और अपनी-अपनी धार्मिक रीति-नीति के पालन में बाधा नहीं डालेंगे। धर्म के नाम पर हम एक-दूसरे के प्रति हिंसा से सदा बचेंगे।"

यंग इंडिया
७ मई, १९१९

: २० :

भारत के माथे पर कलंक

अछूतों का एक अलग वर्ग होना भारत के माथे पर कलंक है। जात-पांत एक वाधा है, पाप नहीं, लेकिन अस्पृश्यता तो पाप है, भारी अपराध है और यदि हिन्दू धर्म समय रहते इस नाग को नष्ट नहीं कर देता तो वह उसे खा जायगा। अछूतों को हिन्दू धर्म से बाहर नहीं मानना चाहिए। उनके साथ हिन्दू समाज के प्रतिष्ठित सदस्यों की भांति व्यवहार होना चाहिए और उनके धन्धे के अनुसार उनका वर्ण निर्धारित होना चाहिए।

वर्ण-व्यवस्था की मैंने जो व्याख्या की है और उसका स्वरूप बताया है, उसके हिसाव से आज हिन्दू धर्म उसपर अमल नहीं करता। जो अपने-को ब्राह्मण कहते हैं, उन्होंने ज्ञान की उपासना छोड़ दी है। वे और-और धन्धे करने लगे हैं। यही वात कमोवेश दूसरे वर्णों के विषय में सत्य है। सच यह है कि विदेशी शासन की हमारी दासता के कारण हम सव गुलाम हैं और पश्चिम के लोगों की निगाह में शूद्रों से भी गए-वीते अछूत हैं।

ईश्वर इस अत्याचार को क्यों होने देता है? रावण राक्षस था, लेकिन अस्पृश्यता की यह राक्षसी तो रावण से भी अधिक भयंकर है, और जव हम इस राक्षसी की धर्म के नाम पर पूजा करते हैं तो हमारे पाप की गुरुता और वढ़ जाती है। इससे तो हब्शियों की गुलामी कहीं वेहतर है। ऐसे धर्म में, यदि उसे धर्म कहा जा सके, मुझे वदबू आती है। यह हिन्दू धर्म हो ही नहीं सकता। मैंने हिन्दू धर्म के द्वारा ही ईसाई धर्म और इस्लाम का आदर करना सीखा था। तव यह पाप हिन्दू धर्म का अंग कैसे हो सकता है?

यदि आवश्यकता हुई तो मैं अकेला ही इस पाखण्ड के विरुद्ध लड़ूंगा। मैं अकेला ही प्रायश्चित्त करूंगा और ईश्वर का नाम जपते हुए मर जाऊंगा। सम्भव है, मैं पागल हो जाऊं और कहूं कि अस्पृश्यता के सम्बन्ध में मेरे विचारों में भूल थी और अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का पाप कहकर मैंने पाप करने का अपराध किया। उस समय आप मानें कि मैं डर गया हूं, चुनौती का सामना नहीं कर सका हूं और कायरता से मैं अपने विचार वदलता हूं। उस अवस्था में आप मानें कि मैं मूर्च्छा में प्रलाप कर रहा हूं।

मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार भंगी को गन्दा करनेवाला मैल शारीरिक है और आसानी से दूर किया जा सकता है, लेकिन कुछ लोगों पर असत्य और पाखण्ड का मैल चढ़ गया है और वह इतना सूक्ष्म है कि उसे साफ करना वड़ा कटिन है। यदि कोई अछूत है, तो वे लोग हैं जो असत्य और पाखण्ड से भरे हैं।

गोधरा के महारवाड़े में भंगी, डोम और दूसरे अछूतों का जो जलसा हुआ था, उसकी "गुजराती" पत्र में वड़ी आलोचना हुई है। इन आलोचकों ने जलसे की घटनाओं के एकदम विकृत विवरण दिये हैं और पाठकों को भ्रम में डाला है। इसलिए मैं उस भ्रम को दूर करने के लिए ये पंक्तियां लिख रहा हूं।

धर्म के मामले में मैं अपनेको वच्चा नहीं मानता, वल्कि पैंतीस साल के अनुभव वाला वयस्क मानता हूं, क्योंकि मैंने इतने वर्षों तक धर्म के विषय में विचार और मनन किया है, विशेषकर जहां कहीं मैंने सत्य देखा है, वहीं मैंने उसे कार्य रूप में परिणत किया है। मेरा पक्का विश्वास है कि शास्त्रों के मात्र पठन-पाठन से धर्म के सच्चे स्वरूप की चेतना उत्पन्न नहीं होती। हम देखते हैं कि विना नीति-नियम के पालन तथा शास्त्रों के अध्ययन के, मनुष्य स्वेच्छाचारी वन जाता है। किसी धर्म-सिद्धान्त का अर्थ पूछने के लिए मैं उस आदमी के पास नहीं जाऊंगा, जिसने पण्डित कहलाने की इच्छा से शास्त्रों का अध्ययन किया है। इस कारण से मैं अपनी नीति-संहिता निर्धारित करने के लिए मैक्समूलर जैसे विद्वानों द्वारा परिश्रमपूर्वक अध्ययन

के आधार पर लिखी पुस्तकों की सहायता नहीं चाहूंगा। आजकल बहुत-से लोग, जो अपनेको शास्त्रों का ज्ञाता मानते हैं, अज्ञानी और दम्भी पाये जाते हैं। मैं गुरु की खोज में हूं। मैं मानता हूं कि गुरु की आवश्यकता है, लेकिन जबतक मुझे योग्य गुरु नहीं मिल जाते, अपना गुरु आप बना रहूंगा। वास्तव में मार्ग बड़ा विकट है, लेकिन पाप से भरे इस युग में यही रास्ता सही है। हिन्दू धर्म इतना महान और उसका प्रभाव इतना व्यापक है कि कोई भी उसकी व्याख्या करने में सफल नहीं हो सका। मेरा जन्म वैष्णव सम्प्रदाय में हुआ था और मैं सिद्धों तथा सिद्धान्तों को बहुत ही प्रेम करता हूं। वैष्णव या हिन्दू धर्म में कहीं भी यह प्रतिपादित नहीं देखा कि भंगी, डोम आदि अछूत हैं। हिन्दू धर्म बहुत-सी पुरानी रूढ़ियों से घिर गया है। उनमें से कुछ रूढ़ियां प्रशंसनीय हैं, लेकिन शेष निन्दनीय हैं। अस्पृश्यता की रूढ़ि तो एकदम निन्दनीय है। इसीके कारण दो हजार वर्ष से हिन्दू धर्म, धर्म के नाम पर, पाप के बोझ से दबा हुआ है। मैं ऐसी कट्टरता को पाखण्ड कहता हूं। आपको इस पाखण्ड से मुक्त होना होगा। इसका प्रायश्चित्त आप पहले से ही कर रहे हैं। मनुस्मृति तथा दूसरे धर्म-ग्रन्थों में से इस कट्टरता के समर्थन में श्लोक देने से कोई लाभ नहीं है। इन धर्म-ग्रन्थों में बहुत-से श्लोक तो बाद में जोड़े गये हैं, बहुत-से बिल्कुल बेमानी हैं। फिर अबतक मुझे एक भी ऐसा हिन्दू नहीं मिला, जो मनुस्मृति के प्रत्येक आदेश का पालन करता हो, या करना चाहता हो। और यह सिद्ध करना आसान है कि जो ऐसा करता है, वह अन्त में अपनेको दूषित करेगा। धर्म-ग्रन्थों में छपे प्रत्येक श्लोक का समर्थन करने से सनातन धर्म की रक्षा नहीं होगी। उसकी रक्षा तो उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों को अमल में लाने से होगी—उन सिद्धान्तों को, जो सनातन हैं। जिन धार्मिक नेताओं से मुझे इस मसले पर चर्चा करने का अवसर मिला है, वे सब इस बात को स्वीकार करते हैं। सारे उपदेशकों ने, जिनकी गिनती विद्वानों में होती है और जो समाज में पूज्य माने जाते हैं, स्पष्ट कहा है कि भंगी, डोम आदि के साथ हमारा जो व्यवहार है, उसका कोई आधार नहीं है,

सिवा इसके कि वैसी प्रथा चली आती है। सच पूछिए तो कोई भी इस प्रथा को नहीं मानता। रेल में हम उनका स्पर्श करते हैं। उन्हें मिलों में काम पर लगाया जाता है, जहां हम उन्हें बिना तनिक भी हिचकिचाहट के छूते हैं। फर्ग्यूसन तथा बड़ौदा कालिजों में अछूतों को प्रविष्ट किया गया है। जहांतक इन मामलों का सम्बन्ध है, समाज कोई भी बाधा उपस्थित नहीं करता। अंग्रेजों और मुसलमानों के घरों में उनका विनम्रता से स्वागत-सत्कार होता है। वास्तव में उनमें से बहुतों के साथ हमें हाथ मिलाने में गर्व अनुभव होता है। जब यही अन्त्यज ईसाई धर्म में परिवर्तित हो जाते हैं तो हम उनके साथ अछूतों का-सा व्यवहार करने का साहस नहीं कर सकते। इस प्रकार समझदार हिन्दू के लिए उस परम्परा का समर्थन करना असम्भव है जिसका पालन न किया जा सके, भले ही उस सम्बन्ध में उसका मत भिन्न क्यों न हो। जो अस्पृश्यता में निहित घृणा की भावना को अस्वीकार करते हैं, उनके उल्लेख के लिए मैं किसी विशेषण की कल्पना नहीं कर सकता। यदि कोई भंगी भूल से हमारे डिब्बे में घुस आता है तो वह बिना ठुकाई के बच नहीं सकता और जहांतक गालियों का सम्बन्ध है, उनकी तो उस पर बौछार ही होगी। चाय बेचनेवाला उसको चाय नहीं देगा, न दुकानदार उसे सौदा देगा। भले ही वह मर रहा हो, हम उसे छूना गवारा नहीं करेंगे। हम उसे अपनी जूठन खाने को देते हैं और पहनने को फटे-पुराने और गन्दे कपड़े। कोई भी हिन्दू उसे पढ़ाने को तैयार नहीं होता। वह उनके मकान में नहीं रह सकता। हमारे गुस्से के डर से उसे सड़क पर बार-बार कहना पड़ता है कि वह अछूत है। इससे बढ़कर घृणासूचक व्यवहार और क्या हो सकता है? उसकी यह दशा क्या सूचित करती है? जिस प्रकार किसी समय यूरोप में धर्म की ओट में गुलामी का समर्थन किया जाता था, उसी प्रकार अब हमारे समाज में धर्म के नाम पर अन्त्यजों के प्रति घृणा को पोषण दिया जाता है। यूरोप में कुछ लोग ऐसे थे, जो अन्त तक गुलामी के समर्थन में बाइबिल की दुहाई देते रहे। मैं कट्टरता के अपने वर्तमान समर्थकों को इसी कोटि में शामिल करता हूं। हमें धर्म को अस्पृश्यता के

कलंक से मुक्त करना है, जो उस पर आरोपित किया जाता है। जबतक हम ऐसा नहीं करेंगे तबतक महामारी, हैजा आदि रोगों को समूल नष्ट नहीं कर सकते। अन्त्यजों के धन्धों में नीचता की कोई बात नहीं है। डाक्टर और हमारी माताएं भी वैसे ही काम करती हैं। दलील दी जा सकती कि वे बाद में अपनी सफाई कर लेते हैं ठीक है, लेकिन यदि भंगी इत्यादि वैसा नहीं करते तो इसमें दोष सोलहों आने हमारा है, उनका नहीं। स्पष्ट है कि हम जिस घड़ी उनका प्यार से आलिंगन करने लगेंगे, वे स्वच्छता से रहना सीख लेंगे।

सहभोज के लिए आन्दोलन के विपरीत इस आन्दोलन को बढ़ावा देने की आवश्यकता नहीं है। इस आन्दोलन से वर्णाश्रम की पद्धति का लोप नहीं होगा। इसका उद्देश्य तो उसके अतिरेक को दूर करके उसे बचाना है। इस आन्दोलन के पुरस्कर्ताओं की यह भी इच्छा नहीं है कि भंगी आदि अपना धन्धा छोड़ दें। वे तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि मल तथा गन्दगी को दूर करने का कार्य आवश्यक तथा पवित्र है और उसके करने से वैष्णव की भी शोभा बढ़ती है। इसलिए जो इस काम को करते हैं, वे नीच नहीं हैं, बल्कि दूसरे धन्धे करनेवालों की तरह सामाजिक अधिकारों के पात्र हैं, उनका काम देश को बहुत-सी बीमारियों से बचाता है, अतः वे डाक्टरों के समान ही मान-सम्मान के अधिकारी हैं।

इस देश की जहां तपस्या, पवित्रता, करुणा तथा अन्य गुणों के कारण भक्ति की जाती है, वहां यह व्यभिचार, पाप, क्रूरता आदि दुर्गुणों की भी क्रीड़ास्थली बना हुआ है। ऐसे समय में लेखकों की हमारी जमात का कर्तव्य है कि वह पाखण्ड को जड़-मूल से नष्ट करने के लिए कमर कस ले। मैं आपसे अनुरोध करता हूं कि आप इस पवित्र काम में भागीदार बनें, जो कि गोधरा में आरम्भ किया गया था। उसका अभिनन्दन करें और उस उद्योग में सहायक हों, जो कि इस ध्येय के लिए किया जायगा, जिससे ६ करोड़ मनुष्य हताश होकर हमसे अलग न हो जायं।

इस आन्दोलन में सम्मिलित होने से पहले मैंने अपनी धार्मिक जिम्मे-

दारी के बारे में अच्छी तरह विचार कर लिया है। एक आलोचक ने भविष्यवाणी की है कि आगे चलकर मेरे विचार बदल जायंगे। इस सम्बन्ध में मैं केवल इतना ही कहूंगा कि यदि कभी ऐसा समय आया, तो मैं उससे पहले ही हिन्दू धर्म ही नहीं, बल्कि सारे धर्मों को तिलांजलि दे दूंगा। लेकिन मेरी निश्चित धारणा है कि यदि हिन्दू धर्म को इस कलंक से मुक्त करने के प्रयत्न में मुझे अपने प्राण भी देने पड़ें तो यह कोई बड़ी बात नहीं होगी। जिस धर्म ने नरसी मेहता जैसे भक्तों को पैदा किया है, जो मनुष्य-जाति को समान दृष्टि से देखते थे, उस धर्म में अस्पृश्यता की भावना का बना रहना असम्भव है।

कलेक्टेड वर्क्स ऑव महात्मा गांधी
खण्ड १४, पृष्ठ ७४-७७

: २१ :

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता हिन्दू धर्म पर सबसे बड़ा कलंक है। वह शास्त्रों के विरुद्ध है, वह मानवता के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध है। यह समझना बुद्धि से परे है कि केवल जन्म के कारण कोई मनुष्य अछूत माना जाय, उसे निकट आने और देखने योग्य भी न समझा जाय। ये विशेषण उसके अर्थ को पूरी तरह प्रकट नहीं करते। कुछ पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के लिए छूना या निश्चित सीमा के भीतर पैर रखना अथवा उन व्यक्तियों द्वारा देखा जाना, जो अपनेको सवर्ण हिन्दू कहते हैं, अपराध है। दुःख की बात यह है कि लाखों हिन्दू इस संस्था में विश्वास करते हैं, मानों वह हिन्दू धर्म द्वारा लागू की गई हो।

हर्ष है कि हिन्दू-सुधारक इस प्रथा से भयाक्रान्त होकर उसकी ओर से मुंह फेर रहे हैं। वे इस निष्कर्ष पर आये हैं कि सारे हिन्दू शास्त्रों में अस्पृश्यता को समर्थन प्राप्त नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव जाति जिन बुराइयों से परिचित है, उनकी भांति इस प्रथा के समर्थन में भी सन्दर्भ से अलग हटकर कुछ इने-गिने, स्वयं माने गये, अवतरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।, लेकिन शास्त्रों में ऐसे भी बहुत-से प्रमाण मौजूद हैं, जो किसी भी चीज़ या किसी भी प्रथा को, जो मानवता या नैतिकता, अहिंसा या सत्य के बुनियादी सिद्धान्तों के विरुद्ध है, अहिन्दू मानकर तत्काल त्यागने का अधिकार देते हैं।

अस्पृश्यता के विरुद्ध यह आन्दोलन, दिन-ब-दिन ज़ोर पकड़ता जा रहा है। पिछले सितम्बर में सारे हिन्दू-भारत के प्रतिनिधित्व का दावा

करनेवाले, प्रमुख हिन्दू आपस में मिले थे और उन्होंने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया था, जिसमें अस्पृश्यता की निंदा की थी और शपथ ली थी कि वे कानून द्वारा, सम्भव हुआ तो मौजूदा शासन में ही, इसे समाप्त करा देंगे। यदि इसमें सफलता न मिली तो भारत की अपनी संसद हो जाने पर वैसा कर डालेंगे।

अस्पृश्यता के जिन चिह्नों को मिटाना था, उनमें एक हरिजनों द्वारा मन्दिर-प्रवेश पर बन्धन था। लड़ाई के दरमियान पता चला कि भारत में ब्रिटिश अदालतों ने इस बुरी प्रथा को मान्यता दी थी, यहां तक कि अछूतों द्वारा किये गए, कुछ काम, ब्रिटिश पीनल कोड के मातहत अपराध माने जाते थे। इस तरह अछूतों का हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश करना, इण्डियन पीनल कोड के अधीन दण्डनीय अपराध होगा।

इसलिए मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन आगे बढ़े कि उससे पहले यह आवश्यक हो गया है कि यह असंगति दूर हो। इसी उद्देश्य से श्रीयुत रंगा अय्यर ने, केन्द्रीय विधान सभा में पेश करने के लिए दो विधेयकों का नोटिस दिया है। प्रान्तीय सरकारों की राय जानने के बाद, वायसराय ने इन विधेयकों को पेश करने की अनुमति दे दी है। लेकिन चूंकि ये निजी विधेयक हैं, इसलिए इनके उस समय तक देश का कानून बनने की सम्भावना कम है, जबतक कि सरकार और विधान सभा के सदस्य उनपर विचार करने में बाधक बनने से अपनेको न रोकें। दलील दी जा सकती है कि सरकार धर्म के मामलों में तटस्थ रहने के लिए वचनबद्ध होने के कारण, किसी-न-किसी प्रकार, पहले विधेयक को पारित कराने के लिए सुविधा देने को बाध्य है, क्योंकि उसका उद्देश्य उस प्रभाव को दूर कराना है, जिसे ब्रिटिश भारतीय अदालतों के फैसलों ने पैदा किया है, और ऐसा वह अस्पृश्यता की कानूनी मान्यता को हटाकर करता है।

इस देश के निवासियों द्वारा मान्य विभिन्न धर्मों में कुछ ऐसी प्रथाएं हैं, जिनके उल्लंघन को अपराध नहीं माना जाता, यद्यपि सम्बन्धित धर्मों की संहिताओं में उन्हें बड़ा गम्भीर समझा जाता है। इस प्रकार एक हिन्दू

द्वारा गो-मांस का प्रयोग हिन्दू धर्म संहिता की निगाह में अपराध है, लेकिन ब्रिटिश पीनल कोड के अधीन वह प्रत्यक्षतः दण्डनीय नहीं है। तब क्या कोई कारण है कि भारत का सामान्य कानून अस्पृश्यता की प्रथा के उल्लंघन को दण्डित करे? यदि हिन्दू शास्त्रों का ज्ञान रखनेवाले ऐसे बहुत-से हिन्दू हैं, जो अस्पृश्यता की वर्तमान प्रथा को शास्त्र-सम्मत मानते हैं, तो उतने ही ऐसे हिन्दू पण्डित हैं, जो इससे उल्टा विचार रखते हैं। ध्यान रहे कि हस्ताक्षर करनेवाले सब कट्टर हिन्दू हैं, जो अपने धर्म को उतना ही प्रेम करते हैं, जितना विरोधी विचारधारा के विद्वान करते हैं। २५ जनवरी, १९३३ को अखिल भारतीय सनातन धर्म सभा का अधिवेशन हुआ था, जिसकी अध्यक्षता पण्डित मालवीयजी ने की थी और उसमें सौ से अधिक विद्वानों ने भाग लिया था। इस अधिवेशन में इस आशय का प्रस्ताव पास किया गया कि हरिजनों को मन्दिरों में जाने का उतना ही अधिकार है, जितना दूसरे हिन्दुओं को।

यदि विधेयक पारित नहीं हुए, तो स्पष्ट है कि सुधार का मुख्य भाग अनिश्चित काल के लिए अटका पड़ा रहेगा। धर्म के मामले में तटस्थता का अर्थ धार्मिक निष्क्रियता और सुधार के मार्ग में रुकावट नहीं होना चाहिए।

"धर्म खतरे में है"—इस पुकार को समझना मुश्किल है। दोनों में से किसी विधेयक के अंतर्गत एक भी मन्दिर उसमें बहुसंख्यक जानेवालों की इच्छा के बिना नहीं खुलेगा, दूसरे विधेयक में यह बात साफ-साफ कह दी गई है। पहले विधेयक में तटस्थ भाव रक्खा गया है। वह किसी भी हरिजन को मन्दिर में जबर्दस्ती घुसने में मदद नहीं करता। सुधारक, विरोधियों को बाध्य नहीं करना चाहते कि वे उनकी इच्छानुसार चलें। वे यथासंभव शुद्धतम साधना से, बहुमत या अल्पमत को, जैसी भी स्थिति हो, अस्पृश्यता के संबंध में अपने मत में परिवर्तन करने की इच्छा रखते हैं।

कहा जाता है कि हरिजन स्वयं मन्दिर-प्रवेश नहीं चाहते और वे केवल अपनी आर्थिक और राजनैतिक अवस्था में सुधार के आकांक्षी हैं। सुधारक

भी यही चाहता है, लेकिन वह मानता है कि यदि धार्मिक समानता प्राप्त हो जाय तो यह सुधार कहीं जल्दी हो जायगा। सुधारक इस वात से इन्कार करता है कि हरिजन मन्दिर में नहीं जाना चाहते। लेकिन यह सम्भव है कि उनमें सवर्ण-हिन्दुओं तथा हिन्दू धर्म से इतनी वितृष्णा पैदा हो गई है कि वे उनसे कुछ नहीं चाहते। अपने उद्विग्नता-पूर्ण असंतोष के कारण वे धार्मिक परिधि से बाहर रहना ही पसंद कर सकते हैं। सवर्ण हिन्दुओं के प्रायश्चित करने से अब क्या होगा!

जो हो, उन सवर्ण हिन्दुओं को, जो छुआछूत को हिन्दू धर्म पर कलंक मानते हैं, अस्पृश्यता के पाप का प्रायश्चित करना ही होगा। इसलिए हरिजन मन्दिर-प्रवेश चाहें या न चाहें, सवर्ण हिन्दुओं को अपने मन्दिरों को हरिजनों के लिए ठीक उन्हीं शर्तों पर खोल देना चाहिए, जो दूसरे हिन्दुओं पर लागू होती हैं। यदि सवर्ण हिन्दुओं में सम्मान की कुछ भी भावना है तो उनके लिए मन्दिर में प्रवेश का निषेध उस प्रतिज्ञा का सतत भंग है, जो पिछले सितंवर में वम्बई की सभा में ली गई थी। जिन्होंने दुनिया और ईश्वर को वचन दिया था कि वे हरिजनों के लिए मन्दिर खुलवाकर ही मानेंगे, उन्हें उस प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपना सव-कुछ निछावर करना होगा। संभव है कि वे हिन्दुओं के मन का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। तव उन्हें अपनी पराजय स्वीकार करनी होगी और उचित प्रायश्चित करना होगा। मन्दिर-प्रवेश वह आध्यात्मिक कार्य है, जो अस्पृश्यों को स्वतन्त्रता का सन्देश देगा और उन्हें आश्वस्त करेगा कि वे परमेश्वर के आगे अछूत नहीं हैं।

हरिजन
११ फरवरी, १९३३

: २२ :

स्वतंत्रता बनाम स्वराज्य

कहा जाता है कि स्वतन्त्रता का प्रस्ताव, लार्ड वर्कनहैड का माकूल जवाव है। यदि यह गंभीर दावा है, तो हमें इसका पता ही नहीं है कि सुधार-जांच कमीशन वैठाने का, और उसकी नियुक्ति की घोषणा के समय की परिस्थिति का क्या जवाव होना चाहिए। नियुक्ति के उत्तर में, यह जरूरी नहीं है कि वहादुराना भाषण दिये जायं, या साहसिक घोषणाएं की जांय, वल्कि इसके लिए तो वैसा ही काम करके दिखाना होगा, जो ब्रिटिश मंत्री, उनके साथियों और उनके पीछे चलनेवालों की करनी के अनुरूप हो। मान लीजिये कि कांग्रेस कोई भी प्रस्ताव पास न करती, वल्कि अपने पास के सारे विदेशी कपड़े की होली जला देती और समूचे राष्ट्र को वैसा ही करने को तैयार कर लेती तो यह पर्याप्त न होते हुए भी, उस नियुक्ति के कार्य का कुछ जवाब होता। यदि कांग्रेस, मुख्य न्यायाधीशों से लेकर मामूली चपरासियों तक, हर सरकारी कर्मचारी से हड़ताल करा देती और उसमें सैनिकों को भी शामिल करा लेती, तो यह उसका वहुत ही उपयुक्त उत्तर होता। इससे ब्रिटिश मन्त्रियों तथा उन सम्वन्धित व्यक्तियों के मानसिक चैन में खलल पड़ जाता, जो हमारे सारे पराक्रम को देख रहे हैं।

कहा जा सकता है कि यह चरम सिद्धि की कोरी सलाह है और मुझे यह जानना चाहिए कि वह अमल में नहीं लाई जा सकती। मैं ऐसा विचार नहीं रखता। वहुत से भारतीय, जो आज मुंह नहीं खोल रहे हैं, वे निस्सन्देह अपने ढंग से उस शुभ दिन की तैयारी में लगे हैं, जवकि हम गुलाम वनाये रखनेवाले इस सरकारी तंत्र को चलानेवाला एक-एक भारतीय, अराष्ट्रीय

नौकरी को छोड़ देगा। कहते हैं कि जब काम करने की तैयारी न हो, तो अपनी ज़बान पर ताला डाल रखने में ही बहादुरी है, बुद्धिमानी तो बेशक है ही। बिना तदनुरूप कार्य के, कोरे ज़ोरदार भाषण, भाप को बेकार उड़ा देने के समान हैं, और तेज़-से-तेज़ भाषा भी फीकी पड़ गई, जब सन् १९२० में देशभक्तों ने जोशीले भाषणों की निस्वत जेल जाना सीखा। बोलना उनके लिए जरूरी है, जिनकी बोलती बंद हो गई हो वाचाल के लिए, संयम जरूरी है। अंग्रेज प्रशासक हमारे भाषणों का मज़ाक उड़ाते हैं, कभी-कभी अपने कामों से हमारे भाषण के लिए घृणा व्यक्त करते हैं और इस प्रकार शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से वे हमसे कहते हैं—"हौसला हो तो काम करो"। जबतक हम उनकी चुनौती को स्वीकार नहीं कर सकते, तबतक धमकी से भरा हमारा प्रत्येक व्याख्यान, या हमारा संकेत, मेरी राय में ज़लालत है, अपनी नामर्दी की स्वीकृति है! मैंने ज़ंजीरों में जकड़े कैदियों को खोखली कसमें खाते देखा है, जिससे उनके जेलरों का मनोरंजन ही होता है।

क्या किसी अंग्रेज़ की अपमानजनक बात के जवाब में स्वतंत्रता अचानक हमारा ध्येय बन गई है? क्या लोग किसीके साथ अहसान करने के लिए अपने ध्येय की कल्पना करते हैं, या उनके कार्य का विरोध करने लिए? मेरा निवेदन है कि यदि ध्येय है, तो हमें उसकी घोषणा करनी ही चाहिए, और बिना दूसरों के कार्यों अथवा धमकियों की चिंता किये उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

इसलिए हम यह समझ लें कि स्वतंत्रता से हमारा आशय क्या है? इंग्लैण्ड, रूस, स्पेन, इटली, तुर्की, चिल्ली, भूटान, सभीको स्वतंत्रता मिली हुई है। हम कौन-सी स्वतन्त्रता चाहते हैं? यह सवाल उठाने के लिए मुझे दोषी न ठहराया जाय, क्योंकि यदि मुझसे कहा जाए कि यह भारतीय स्व-तन्त्रता है, जो कि अपेक्षित है, तो यह दिखाना संभव है कि कोई भी दो व्यक्ति एक ही परिभाषा नहीं दे सकते। सचाई यह है कि हम अपने अंतिम ध्येय को जानते ही नहीं। उसका निश्चय हमारी परिभाषाओं से नहीं

वल्कि इच्छापूर्वक और अनिच्छापूर्वक किये गए हमारे कार्यों से होगा। यदि हम वुद्धिमान हैं तो हम वर्तमान को सम्भाल लेंगे और भविष्य अपनी चिन्ता आप कर लेगा। परमात्मा ने हमें केवल सीमित कार्य-क्षेत्र और सीमित दृष्टि दी है। यदि हम आज का काम आज समाप्त कर लेंगे, तो वही वहुत होगा।

मैं मानता हूं कि स्वराज्य सवको सदा के लिए संतोष देने वाला ध्येय है। हम अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय, प्रायः अनजाने, यह सोचने की भयंकर भूल करते हैं कि अंग्रेज़ी वोलनेवाले मुट्ठी-भर भारतीय लोग ही समूचा भारत है। मैं उनको चुनौती देता हूं कि वे "इंडिपेंडस" के लिए एक ऐसा सामान्य भारतीय शव्द सुझावें, जिसे जनता समझ सके। जो हो, हमारे ध्येय को, तीस करोड़ लोग किसी स्वदेशी शव्द से ही समझ सकेंगे और हमारे पास ऐसा शव्द है "स्वराज्य", जिसका राष्ट्र के नाम पर सवसे पहले दादाभाई-नौरोजी ने प्रयोग किया था। यह "इंडिपेंडस" से कहीं वड़ा है और इंडि-पेंडेण्स उसमें समाविष्ट है। यह वड़ा शक्तिशाली शव्द है। हज़ारों भार-तीयों के गौरवशाली वलिदानों से वह पवित्र हो गया है। यह एक ऐसा शव्द है, जो यदि भारत के कोने-कोने में नहीं पहुंच पाया है, तो कम-से-कम ऐसे दूसरे किसी शव्द से वहुत अधिक प्रचलित है। उस शव्द के स्थान पर किसी ऐसे विदेशी शव्द को रखना जिसकी उपयोगिता में हमें शंका है, पाप है। यह स्वतंत्रता का प्रस्ताव ही शायद इस वात का अंतिम कारण है कि हम कांग्रेस की कार्यवाही केवल हिन्दुस्तानी में चलावें। तब स्वतंत्रता के प्रस्ताव जैसी दुर्घटना सम्भव न होती। उस समय सवसे साहसी वक्ता "स्वराज्य" शव्द के स्वदेशी अर्थ को ही विभूषित करते और उसकी गौरवशाली अथवा गौरवहीन परिभाषाएं देने का प्रयत्न करते। क्या इंडिपेंडेण्ट लोग उनके अनुभव से कुछ सवक सीखेंगे और आगे जनता के वीच काम करने का निश्चय कर लेंगे, जिसके लिए वे स्वतंत्रता चाहते हैं और कांग्रेस-जैसी जन-सभाओं में अंग्रेजी का प्रयोग बिल्कुल वंद कर देंगे?

जहांतक मेरा सम्वन्ध है, मुझे स्वतन्त्रता की, जिसे मैं समझता नहीं,

कोई चाह नहीं है, लेकिन मैं अंग्रेज़ी के जुए से मुक्ति चाहता हूं। इसके लिए मैं सबकुछ कर सकता हूं। इसके बदले में मैं अव्यवस्था को स्वीकार करूंगा, क्योंकि अंग्रेजी शान्ति तो श्मशान की शान्ति है। सारे राष्ट्र की इस जीवन्त मृत्यु से तो कुछ भी अच्छा होगा। इस शैतानी सल्तनत ने तो इस सुन्दर भूमि को आर्थिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से नष्टप्राय कर दिया है। मैं रोज़ देखता हूं कि इसके न्यायालय न्याय नहीं करते और सत्य की हत्या करते हैं। मैं अभी भयातुर उड़ीसा से आया हूं। यह शासन मेरे ही देशवासियों को अपने पाप-पूर्ण निर्वाह के लिए इस्तेमाल कर रहा है। मेरे पास बहुत-से ऐसे हलफिया बयान हैं, जिनमें कसम खाकर कहा गया है कि खुर्दा ज़िले में प्रायः संगीन की नोक पर लोगों को चढ़ा हुआ लगान मंजूर करने के लिए मजबूर किया गया है। इस शासन की बेमिसाल फिज़ूलखर्ची ने राजा-महाराजाओं का सिर फिरा दिया है, जो नतीजे की चिंता न करके शासन की नकल करते हैं और अपनी प्रजा को पीस कर धूल में मिलाते हैं। अपने अनैतिक व्यापार की रक्षा करने के लिए यह शासन, नीच-से-नीच साधन काम में ला सकता है और तीस करोड़ आदमियों को एक लाख मनुष्यों के पैरों तले दबाये रखने के लिए सेना पर इतना खर्च करता है कि उसके कारण करोड़ों लोग आधा-पेट खाकर रहते हैं और शराब से हज़ारों के मुंह अपवित्र करता है।

लेकिन हर हालत में मेरा धर्म तो अहिंसा है। मेरा तरीका दबाव का नहीं, हृदय-परिवर्तन का है। वह आत्म-पीड़न का है, ज़ालिम को दुख देने का नहीं। मैं जानता हूं, मेरा अस्त्र अमोघ है। मैं जानता हूं कि समूचा देश उसे अपने ध्येय के रूप में स्वीकार करके, बिना उसके दर्शन को समझे, उसपर अमल कर सकता है। मेरी महत्वाकांक्षा स्वतन्त्रता से भी कहीं ऊंची है। भारत को मुक्त करके मैं तथाकथित निर्बल जातियों को पश्चिमी शोषण के, जिसका इंग्लैण्ड सबसे बड़ा भागीदार है, नीचे पिसने से बचाना चाहता हूं। यदि भारत अंग्रेजों का हृदय बदल दे, जैसा कि वह कर सकता है, तो वह संसार के राष्ट्रसंघ में, जिसका इंग्लैण्ड चाहे तो हिस्से-

दार बनने का सौभाग्य पा सकता है, एक प्रमुख साझीदार बन सकता है। भारत को यदि पता चल जाय तो उसे अपनी संख्या, भौगोलिक स्थिति तथा युग-युग से मिली संस्कृति के बल पर प्रमुख भागीदार बनने का अधिकार है। मैं जानता हूं, यह डींग मारना है, क्योंकि गिरे हुए भारत के लिए यह आकांक्षा करना कि वह दुनिया को हिला देगा और दुर्बल जातियों की रक्षा कर लेगा, धृष्टता दिखाई देती है। लेकिन स्वतन्त्रता के इस शोर के अपने ज़ोरदार विरोध को समझाने के लिए मैं अब सचाई को अधिक छिपा नहीं सकता। मेरी महत्वाकांक्षा ऐसी है कि जिसके लिये जीना उचित है और जान दे देना भी मुनासिब है। परिणाम के भय से मैं किसी प्रकार भी सर्वोत्तम स्थिति से नीचे की स्थिति से समझौता नही करना चाहता। इसलिए किसी स्वार्थ-वश मैं अपने ध्येय के रूप में स्वतन्त्रता का विरोध नहीं करता। मैं चाहता हूं कि भारत अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करे और इस स्थिति की व्याख्या स्वराज्य की अपेक्षा कोई भी एक शब्द अधिक अच्छी तरह नहीं कर सकता। विशेष समय पर राष्ट्र जो कार्य कर सकेगा, उसी पर इसका सार निर्भर करेगा। भारत के अपनी सच्ची अवस्था को प्राप्त करने का अर्थ यह होगा कि प्रत्येक राष्ट्र वैसा ही करेगा।

यंग इंडिया
१२ जनवरी, १९२८

: २३ :

ऐतिहासिक मुकदमा

इस वक्तव्य को पढ़ने से पहले मैं यह निवेदन करना चाहूंगा कि विद्वान एडवोकेट जनरल ने, मुझ अदना आदमी के सम्बन्ध में, जो कुछ कहा है, उसका मैं पूरी तरह से अनुमोदन करता हूँ। मैं समझता हूं कि उन्होंने जो भी बयान दिये हैं, उन सबमें उन्होंने मेरे प्रति पूर्ण न्याय किया है, क्योंकि यह बिलकुल सत्य है और इस न्यायालय से इस तथ्य को छिपाने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है कि वर्तमान शासन-व्यवस्था के विरुद्ध असंतोष का प्रचार करने की मुझे धुन सवार हो गई है, और विद्वान एडवोकेट जनरल का यह कहना प्रायः एकदम सही है कि अप्रीति का प्रचार 'यंग इंडिया' से मेरा सम्बन्ध जुड़ने के समय से आरम्भ नहीं हुआ, बल्कि बहुत पहले से शुरू हो गया था। अभी मैं जो बयान पढ़नेवाला हूं, उसमें इस न्यायालय के सामने यह स्वीकार करना मेरा दुखद कर्त्तव्य है कि एडवोकेट जनरल ने जो अवधि बताई है, उससे बहुत पहले ही मैंने उसका श्रीगणेश कर दिया था। यह अत्यन्त दुखद कर्त्तव्य है, लेकिन मेरे कंधों पर जो दायित्व है, उसे देखते हुए मुझे इस कर्त्तव्य का पालन करना ही होगा। विद्वान एडवोकेट जनरल ने, बंबई, मद्रास और चौरीचौरा की घटनाओं के सिलसिले में मुझपर जो दोषारोपण किया है, उस सबको मैं स्वीकार करता हूं। इस सम्बन्ध में, गहराई से रात-दिन, सोते-जागते, चिंतन करने के बाद, चौरी-चौरा के पैशाचिक अपराधों या बंबई और मद्रास के पागलपनभरे विस्फोटों से, अपनेको अलग रखना असंभव है। उनका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि एक ज़िम्मेदार आदमी की हैसियत से, जिसे अच्छी शिक्षा मिली है,

जिसे इस दुनिया का अच्छा अनुभव है, मुझे अपने हरेक कार्य के परिणामों को जानना चाहिए। मैं जानता था कि मैं आग से खेल रहा हूं। मैंने खतरा मोल लिया और यदि मुझे छोड़ दिया गया, तो मैं फिर वहीं करूंगा। मैं जानता हूं कि मैं प्रतिदिन यह अनुभव कर रहा था और आज सुबह भी मुझे यही अनुभव हुआ कि अभी मैंने जो कुछ कहा है वह नहीं कहा होता तो मैं अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता।

मैं हिंसा से बचना चाहता था और चाहता हूं। अहिंसा मेरे विश्वास का प्रथम सिद्धान्त है, और यही मेरी निष्ठा का अन्तिम सिद्धान्त है। लेकिन मुझे दो में से एक चीज़ चुननी थी। मुझे या तो उस व्यवस्था के आगे झुक जाना था, जिसने, मेरी समझ से, मेरे देश को अपूरणीय क्षति पहुंचाई है, या फिर यह खतरा मोल लेना था कि जब मेरे देशवासी मेरे मुंह से सचाई को समझ लेंगे, तो उनमें पागलपनभरा रोष भड़क उठेगा। मुझे इसका गहरा दुःख है। इसलिए मैं हल्की नहीं, बड़ी-से-बड़ी सज़ा स्वीकार करने को तैयार हूं। मैं दया की याचना नहीं करता। मैं यह भी प्रार्थना नहीं करता कि नम्रता से कोई हल्की कार्रवाही की जाय। कानून की दृष्टि में जो जान-बूझकर किया गया अपराध है, और जो मुझे एक नागरिक का सर्वोच्च कर्त्तव्य जान पड़ता है, उसके लिए मुझे जो कड़े-से-कड़ा दण्ड दिया जा सकता है, वही देने के लिए मैं आपसे कहता हूं और मैं उसे खुशी-खुशी स्वीकार करूंगा। न्यायाधीश महोदय, जैसाकि मैं अभी अपने बयान कहनेवाला हूं, आपके सामने सिर्फ एक रास्ता है और वह यह कि या तो आप अपने पद से त्याग-पत्र दे दें, या फिर यदि आपका विश्वास हो कि जिस व्यवस्था और कानून के अमल में आप सहायक हो रहे हैं, वे इस देश के लोगों के लिए अच्छे हैं और इसलिए मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक हित की दृष्टि से हानिकारक है तो आप मुझे कठोर-से-कठोर दण्ड दीजिये। मैं इस प्रकार के हृदय-परिवर्तन की आशा नहीं करता, लेकिन मेरे वक्तव्य के समाप्त होते-होते आपको शायद इस बात का अनुमान हो जायगा कि मेरे अन्तर में ऐसा क्या उमड़ रहा है, जिसके कारण एक विवेकशील व्यक्ति इतना भयंकर खतरा मोल लेने को तैयार हो सकता है।

वक्तव्य

भारतीय जनता और इंग्लैण्ड की जनता के प्रति, जिसे संतुष्ट करने के लिए यह मुकदमा मुख्य रूप से चलाया गया है, शायद मेरी ज़िम्मेदारी है कि मैं इस बात पर रोशनी डालूं कि एक कट्टर राजभक्त और सहयोगी से मैं किस प्रकार अप्रीति का हठी प्रचारक और असहयोगी बन गया। अदालत को भी मुझे यह बताना है कि भारत में कानून द्वारा स्थापित सरकार के विरुद्ध, मैं क्यों अप्रीति को बढ़ावा देने के अपराध को स्वीकार करता हूं।

मेरे सार्वजनिक जीवन का आरम्भ दक्षिण अफ़्रीका में सन १८९३ में तूफानी परिस्थितियों में हुआ था। उस देश में ब्रिटिश सत्ता के साथ मेरा प्रथम सम्पर्क सुखद नहीं था। मुझे पता चला कि एक मनुष्य और एक भारतीय के नाते मेरा कोई अधिकार नहीं है। यह कहना ज्यादा सही होगा कि मुझे मालूम हुआ कि एक मनुष्य के नाते मेरा कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि मैं एक भारतीय हूं।

लेकिन मैं घबराया नहीं। मैंने सोचा कि भारतीयों के साथ इस प्रकार का व्यवहार उस तंत्र के शरीर पर निकला फोड़ा है, जो मूलतः और मुख्यतः अच्छा है। मैंने सरकार को, स्वेच्छा तथा हृदय से सहयोग दिया। जहां दोष दिखाई दिया, वहां खुलकर आलोचना की, लेकिन उसका नाश कभी नहीं चाहा। यही कारण है कि जब सन् १८९९ में बोअर युद्ध के समय साम्राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ गया, तो मैंने उसे अपनी सेवाएं अर्पित कीं। एक आहत सहायक दल खड़ा किया और लेडी स्मिथ की रक्षा के लिए जो अनेक लड़ाइयां लड़ी गईं, उनमें मैंने सहायता की। इसी प्रकार सन् १९०६ में जुलू-विद्रोह के समय मैंने एक डोलीवाहक दल खड़ा किया और विद्रोह की समाप्ति तक काम करता रहा। इन दोनों अवसरों पर मुझे पदक मिले और सरकारी खरीतों में मेरे काम का उल्लेख किया गया। दक्षिण अफ़्रीका में मेरे काम के लिए लार्ड हार्डिंज ने 'कैसरे हिन्द' स्वर्ण पदक दिया। जब सन् १९१४ में इंग्लैंड और जर्मनी के बीच युद्ध छिड़ गया, तो मैंने लन्दन में स्वयं-सेवकों

का एक आहत-सहायक दल खड़ा किया, जिसमें लन्दन में रहनेवाले भारतीय, मुख्यतः विद्यार्थी थे। अधिकारियों ने इस दल के काम को मूल्यवान करार दिया। अन्त में जब भारत में सन् १९१८ में दिल्ली में हुई युद्ध-परिषद में लार्ड चैम्सफोर्ड ने सैनिक भरती के लिए विशेष अनुरोध किया तो अपने स्वास्थ्य की चिन्ता न करके मैंने खेड़ा में सैनिक भरती के लिए जी-जान से प्रयत्न किया और जब मेरे प्रयत्नों का फल आने लगा, तो लड़ाई बन्द हो गई और आदेश मिले कि अब और अधिक रंगरूटों की आवश्यकता नहीं है। सेवा के इन सारे प्रयासों में मैं इस विश्वास से प्रेरित था कि इस प्रकार की सेवा के द्वारा द्वारा साम्राज्य में अपने देशवासियों के लिए पूर्ण समानता का दर्जा पाना सम्भव होगा।

मुझे पहला आघात रौलट अधिनियम से लगा, जिसका उद्देश्य जनता को सभी प्रकार की सच्ची स्वतन्त्रता से वंचित कर देना था। उसके विरुद्ध मुझे तीव्र आन्दोलन करना अपना कर्त्तव्य लगा। उसके बाद पंजाब का लोमहर्षक दृश्य आया, जिसका आरंभ जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड से हुआ और अन्त लोगों के पेट के बल रेंगने के आदेशों, सार्वजनिक रूप से लोगों को हंटरों की मार और अन्य अकथनीय अपमानपूर्ण कृत्यों में हुआ। मैंने यह भी पाया कि टर्की की अखण्डता और इस्लाम के पवित्र स्थानों के बारे में, प्रधान मंत्री ने भारत के मुसलमानों को जो गंभीर वचन दिये थे, उनके पालन की कोई संभावना नहीं थी। लेकिन अनिष्ट के इन लक्षणों और मित्रों की गंभीर चेतावनियों के बावजूद, सन् १९१९ में अमृतसर-कांग्रेस में, मैं सहयोग तथा मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधारों को असल में लाने के लिए लड़ा। तब भी मैं आशा कर रहा था कि प्रधान मंत्री भारतीय मुसलमानों को दिये गए अपने वचन का पालन करेंगे, पंजाब के घाव का इलाज होगा और सुधार अपर्याप्त तथा असंतोषजनक होते हुए भी भारत के जीवन में आशा के एक नये युग का संचार करेगा।

लेकिन मेरी सारी आशाएं धूल में मिल गईं। खिलाफत-सम्बन्धी वचन का पालन नहीं होना था। पंजाब के अपराध पर लीपा-पोती कर दी

गई और अधिकांश अपराधियों को न केवल विना दण्ड के छोड़ दिया गया अपितु वे नौकरियों में बने रहे और कुछ तो भारतीय खज़ाने से पेंशनें भी पाते रहे। इतना ही नहीं, कुछ को पुरस्कार भी मिले। मैंने यह भी देखा कि सुधारों से, न सिर्फ हृदय का परिवर्तन ही नहीं हुआ, बल्कि वे भारत को और ज्यादा लूटने और अधिक समय तक उसे गुलाम बनाये रखने के साधन मात्र थे।

मुझे अनिच्छापूर्वक इस नतीजे पर पहुंचना पड़ा कि राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से भारत पहले जितना असहाय था, उससे भी अधिक अब ब्रिटिश हुकूमत ने उसे बना दिया है। निःशस्त्र भारत यदि किसी आक्रमण-कारी का सशस्त्र मुकावला करना चाहे, तो उसमें प्रतिरोध की शक्ति ही नहीं है। उसकी लाचारी इस हद तक पहुंच गई है कि हमारे कुछ अच्छे-से-अच्छे लोग भी यह मानने लगे हैं कि औपनिवेशिक स्वराज्य पाने में भी भारत को पीढ़ियां लग जायंगी। वह इतना गरीब हो गया है कि उसमें अकालों का मुकाबला करने की क्षमता नहीं रही। अंग्रेज़ों के आने के पहले भारत के लाखों घरों में कताई और बुनाई होती थी और इस तरह खेती से होनेवाली थोड़ी-बहुत आमदनी में बढ़ोत्तरी हो जाती थी। भारत के अस्तित्व के लिए इतने महत्वपूर्ण इस कुटीर उद्योग को अकल्पनीय निष्ठुरता और अमानवीय प्रक्रियाओं से नष्ट कर दिया गया, जैसा कि अंग्रेज साक्षियों ने इसका उल्लेख किया है। शहरों में रहनेवालों को पता भी नहीं है कि किस प्रकार भारत की आधा पेट खाकर रहनेवाली जनता, धीरे-धीरे मृत-प्राय होती जा रही है। उन्हें यह भी नहीं मालूम कि विदेशी शोषण के लिए काम के एवज में उन्हें जो तुच्छ सुविधाएं मिलती हैं, वे दलाली के रूप में होती हैं और वह मुनाफा और दलाली जनता को चूसकर प्राप्त की जाती है। उन्हें इस बात का भी भान नहीं है कि ब्रिटिश भारत में कानून द्वारा स्थापित सरकार, जनता के इस शोषण के लिए ही चलाई जा रही है। कोई भी वितण्डवाद अथवा थोथी आंकड़ेबाजी उस साक्ष्य को झुठला नहीं सकती, जिसे बहुत-से गांवों के अस्थि-पिंजर खुली आंखों के सामने प्रस्तुत करते

हैं। मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि इंग्लैण्ड और भारत के शहरी दोनों को, यदि ईश्वर हम सबके ऊपर है तो, मानवता के विरुद्ध इस अपराध के लिए जवाब देना पड़ेगा, जिसकी शायद इतिहास में कोई मिसाल नहीं है। इस देश में कानून का उपयोग भी विदेशी शोषकों की सेवा के लिए ही किया जाता है! पंजाब मार्शल ला के अन्तर्गत चलाये गए मुकदमों की निष्पक्ष जांच के बाद मेरी धारणा बनी है कि कम-से-कम ९५ फीसदी सजाएं सर्वथा अन्यायपूर्ण थीं। भारत में राजनैतिक मुकदमों के बारे में मेरा अनुभव यही बताता है कि हर दस सज़ायाफ्ता लोगों में से नौ एकदम निर्दोष होते हैं। भारत की आदलतों में सौ में निन्यानवें मामलों में यूरोपीयों के मुकाबले भारतीयों के साथ न्याय नहीं किया गया। इसमें अतिशयोक्ति नहीं है। जिन भारतीयों का ऐसे मामलों से थोड़ा भी सम्बन्ध है, उन सबका प्रायः यही अनुभव रहा है। मेरी राय में इस प्रकार विदेशी शोषणों के लाभ के लिए जाने-अनजाने कानून का दुरुपयोग किया गया है।

सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि अंग्रेज लोग और देश का शासन चलाने में साथ देनेवाले उनके भारतीय सहयोगी यह नहीं जानते कि वे उस अपराध में लिप्त हैं, जिसका वर्णन करने का मैंने प्रयत्न किया है। मुझे चूंकि मालूम है कि बहुत-से अंग्रेज और भारतीय अधिकारी ईमानदारी से विश्वास करते हैं कि वे उस शासन-तंत्र का संचालन कर रहे हैं,जो दुनिया के सर्वोत्तम तंत्रों में से है,और उसके अधीन भारत लगातार, यद्यपि धीमी प्रगति कर रहा है। वे नहीं जानते कि एक ओर आतंक की सूक्ष्म, पर प्रभावकारी प्रणाली तथा पशुबल के सुसंगठित प्रदर्शन और दूसरी ओर प्रतिशोध अथवा आत्म-रक्षा की समस्त शक्ति से वंचित रखने का परिणाम यह हुआ है कि लोग निर्जीव बन गये हैं और उन्हें ढोंग करने की आदत पड़ गई है। इस भयंकर आदत से प्रशासकों की अज्ञानता और आत्मप्रवंचना में वृद्धि हो गई है। जिस १२४ (क) धारा के अधीन, सौभाग्य से मुझपर आरोप लगाया गया है, वह नागरिकों की स्वतन्त्रता का हनन करने की दृष्टि से बनाई गई जाब्ता फौजदारी की राजनैतिक धाराओं में शायद सर्वोपरि है। कानून

से प्रेम उत्पन्न नहीं किया जा सकता, न उसका नियमन ही किया जा सकता है। यदि किसीके मन में किसी व्यक्ति अथवा प्रणाली के लिए प्रेम नहीं है, तो उसे अपने प्रेम के अभाव को अभिव्यक्त करने की उस समय तक स्वतन्त्रता होनी चाहिए, जबतक कि वह हिंसा का इरादा न रखता हो, अथवा उसे प्रोत्साहन या उत्तेजन न देता हो। लेकिन जिस धारा के आधीन श्री बैंकर और मुझपर आरोप लगाये गए हैं, वह धारा तो ऐसी है, जिसके अनुसार अप्रीति की भावना को प्रोत्साहित करना मात्र ही अपराध है। इसके अधीन चलाये गए कुछ मुकदमों का मैंने अध्ययन किया है और मैं जानता हूं कि भारत के कुछ अत्यन्त प्रिय देश-भक्तों को इसके अनुसार दण्डित किया गया है। इसलिए इस धारा के अधीन मुझपर जो आरोप लगाया गया है, उसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। मैंने अपनी प्रतीति की भावना के कारणों को बहुत ही संक्षेप में बताने का प्रयत्न किया है। किसी भी प्रशासक के प्रति मेरे मन में व्यक्तिगत दुर्भावना नहीं है। सम्राट के प्रति अप्रीति का तो सवाल ही नहीं उठता। लेकिन जिस सरकार ने कुल मिलाकर भारत का इतना अहित किया है, जितना पहले के किसी भी तंत्र ने नहीं किया, उसके प्रति अप्रीति रखना मैं श्रेय की बात मानता हूं। ब्रिटिश शासन के अधीन भारत जितना पौरुषहीन है, उतना पहले कभी नहीं था। इस प्रकार के विश्वास के कारण इस तंत्र के लिए प्रेम रखना मैं पाप समझता हूं। अतः अपने विरुद्ध सबूत में पेश किये गए लेखों में मैंने जो कुछ लिखा है, उसे लिखना मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूं।

वास्तव में मेरा विश्वास है कि जिस अस्वाभाविक स्थिति में भारत और इंग्लैण्ड रह रहे हैं,उससे बच निकलने के लिए रास्ता दिखाकर मैंने दोनों की सेवा की है। मेरी विनम्र राय में बुराई के साथ असहयोग करना उतना ही कर्त्तव्य है, जितना अच्छाई के साथ सहयोग करना। लेकिन अबतक बुराई करनेवाले के प्रति असहयोग में जान-बूझकर हिंसा का रास्ता अपनाया जाता रहा है। मैं अपने देशवासियों को यह दिखाने का प्रयत्न कर रहा हूं कि हिंसात्मक असहयोग बुराई को बढ़ावा ही देता है और चूंकि हिंसा

से बुराई ही पोषित होती है, इसलिए बुराई के साथ सहयोग समाप्त करने में हिंसा को एकदम से तिलांजलि देनी होगी। अहिंसा का मतलब है बुराई के साथ असहयोग करने के फलस्वरूप मिलनेवाले दण्ड को स्वेच्छा से स्वीकार करना। अतः कानून की निगाह में, जो जानबूझकर किया गया अपराध है, और जो मेरी दृष्टि में नागरिक का सर्वोच्च कर्त्तव्य है, उसके लिए कड़ी-से-कड़ी सजा मांगने और उसे खुशी-खुशी स्वीकार करने के लिए, मैं यहां खड़ा हूं। न्यायाधीश महोदय, आपके सामने अब एक ही रास्ता है और वह यह कि जिस कानून को अमल में लाने का काम आपको सौंपा गया है, उसे यदि आप बुरा मानते हैं और मुझे सचमुच निर्दोष समझते हैं तो अपने पद से त्यागपत्र दे दें और इस प्रकार बुराई से अपनेको बचावें। इसके विपरीत यदि आपका विश्वास है कि जिस तंत्र और कानून को चलाने में आप सहायक हो रहे हैं, वे इस देश की जनता के लिए हितकर हैं और इसलिए मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक हित की दृष्टि से हानिकारक है, तो आप मुझे कठोरतम दण्ड दीजिए।

यंग इंडिया
२३ मार्च, १९२२

: २४ :

लोकशाही बनाम भीड़शाही

हममें भीड़शाही के शासन के आगे झुक जाने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। १० अप्रैल, १९१९ को अमृतसर में भीड़ का शासन था। उस विधि-निर्मित दिन अहमदाबाद में भी भीड़ का शासन था। वह अनुशासनहीन विध्वंस-लीला के रूप में प्रकट हुआ, इसलिए वह विवेक-शून्य, अलाभकारी, दुष्टतापूर्ण और हानिकर था। यह योजनाबद्ध विध्वंस है, उसमें लोकशाही द्वारा किये गए रक्तपात की अपेक्षा कहीं अधिक रक्तपात होता है और फिर भी युद्ध की अपेक्षा की जाती है, क्योंकि कुछ युद्धों के अस्थायी लेकिन शानदार परिणाम निकलने पर हम धोखे में आ जाते हैं। अतः यदि भारत को हिंसा द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, तो यह अनुशासित और प्रतिष्ठित (यदि हिंसा के साथ प्रतिष्ठित शब्द जोड़ा जा सके) हिंसा अर्थात युद्ध के द्वारा ही संभव होगा। उस हालत में यह भीड़शाही का नहीं लोकशाही का काम होगा।

लेकिन आज मेरा उद्देश्य अहमदाबाद के नमूने की भीड़शाही के विषय में लिखना नहीं है। मैं तो उस ढंग की भीड़शाही के संबंध में लिखना चाहता हूं, जिससे मेरा अधिक परिचय है। कांग्रेस भीड़शाही के लिए प्रदर्शन है। यद्यपि उसका आयोजन विचारवान पुरुषों और स्त्रियों द्वारा होता है, फिर भी वह उस ओर केवल उसी अर्थ में उस भीड़ का प्रदर्शन कहा जा सकता है। हमारे सार्वजनिक प्रदर्शन भी विवाद रूप से भीड़ के प्रदर्शन ही होते हैं। पंजाब, सिंध और मद्रास में खिलाफत मिशन को लेकर किये गए चिर-स्मरणीय प्रवास के दिनों में ऐसे प्रदर्शन देखने का मुझे बहुत अनु-

भव हुआ। रेलवे स्टेशनों पर मुझे यह देखकर शर्म आई है कि प्रदर्शनकारियों ने अपने नेताओं के प्रति भक्ति-भावना में हर चीज़ को और हर आदमी को भुला दिया और अविचार के कारण, हालांकि अनजाने ही, कई मुसाफिरों के सामान को बरबाद कर डाला। प्रदर्शनकारियों ने ऐसी बेसुरी आवाज़ें, जिनसे उनके नेताओं को बेचैनी हुई। उन्होंने एक-दूसरे को रौंद डाला। उन्होंने एक-दूसरे के साथ धक्का-मुक्की की। व्यवस्था और शांति के पवित्र नाम पर वे सब एक ही समय पर चीखे। स्वयं-सेवक जनता के रक्षक बनने के बजाय अक्सर प्रदर्शनकारी बन जाते हैं। स्वयं-सेवकों की छिन्न-भिन्न शृंखला में से नेताओं को सभा-मंच से संभालकर उनके लिए लाई गई गाड़ी तक ले जाना प्रायः खतरनाक काम होता है। असुविधाजनक तो वह हमेशा ही होता है। इस प्रक्रिया को पांच मिनट से अधिक नहीं लगने चाहिए। लेकिन उन्हें अक्सर एक घंटा लग जाता है। भीड़ पीछे हटने के बजाय नेताओं की ओर आगे बढ़ती है और इसलिए उनकी सुरक्षा की आवश्यकता होती है। नेताओं की गाड़ी पर जो चाहता है चढ़ जाता है। सबसे अधिक अपराधी तो स्वयं-सेवक होते हैं। नेताओं तथा गाड़ी में बैठे अन्य अधिकारी व्यक्तियों को उन बलात कब्ज़ा किये लोगों को समझाना पड़ता है कि वे इस प्रकार असावधानी से गाड़ी के पायदान पर न चढ़ें। जुलूस के लोग गाड़ी के टप को बुरी तरह पकड़ लेते हैं। ऐसे बहुत कम अवसर मैंने देखें हैं जबकि भीड़ ने मोटरों के टपों को सही-सलामत रहने दिया हो। सड़क के दोनों ओर कतार बांधकर खड़ा होने के बजाय भीड़ गाड़ी के पीछे चलती है। नतीजा यह होता है कि हुल्लड़बाज़ी मच जाती है। हर घड़ी दुर्घटना का खतरा रहता है। ऐसे प्रदर्शन के समय शायद ही कोई दुर्घटना होती है, तो इसका कारण व्यवस्थापकों का कौशल नहीं होता, बल्कि यह कि भीड़ एक-दूसरे की धक्का-मुक्की को सहन करने के लिए कृत-संकल्प होती है और कोई भी अपनी बगल में खड़े व्यक्ति को परेशान करने की तनिक भी इच्छा नहीं रखता। अन्त में आता है सभा का दृश्य, जो बराबर अधिकाधिक चिंता का कारण बनता जा रहा है। वहां

आपको अव्यवस्था, कोलाहल, धक्कमधक्का, चीख-पुकार का सामना करना पड़ता है। अच्छा वक्ता दर्शकों का ध्यान आकर्षित कर लेता है और तब वहां इतनी शांति हो जाती है कि आप सुई गिरने की आवाज भी सुन सकते हैं।

जो हो, यह भीड़शाही है। आप भीड़ की दया पर हैं। जबतक आपके और भीड़ के बीच सहानुभूति होती है, तबतक सबकुछ ठीक रहता है। जैसे ही सहानुभूति की डोर टूटी फिर स्थिति भयंकर हो जाती है। अहमदाबाद-कांड जब-तब आपको भीड़ के मनोविज्ञान का अनुभव कराता रहता है।

तब हमें कोलाहल में से व्यवस्था का निर्माण करना है और मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि सबसे अच्छा और सबसे त्वरित उपाय भीड़ के शासन के स्थान पर जनता के शासन को लागू करना है। इस मार्ग में एक बड़ी बाधा है कि हमने संगीत की उपेक्षा की है। संगीत का अर्थ है लय, व्यवस्था। उसका प्रभाव बिजली के समान होता है। वह तत्काल राहत पहुंचाता है। यूरोप के देशों में मैंने देखा है कि एक सूझ-बूझवाला पुलिस सुपरिटेंडेंट कोई लोकप्रिय धुन बजवाना शुरू करके भीड़ की शरारती प्रकृति पर नियंत्रण कर लेता है। दुर्भाग्य से हमारे शास्त्रों की भांति संगीत भी कुछ विशेष व्यक्तियों की सम्पत्ति बन गया है। उससे या तो वेश्याएं अपनी गुजर-बसर करती हैं या ऊंचे दर्जे के धार्मिक भक्त उसका उपयोग करते हैं। आधुनिक अर्थों में उसका राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ। यदि स्वयं-सेवकों, बालचरों तथा सेवा-समिति के संगठनों पर मेरा बस चले तो मैं राष्ट्रीय गीतों का तालबद्ध गायन अनिवार्य कर दूं। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैं हर कांग्रेस या सम्मेलनों में बड़े-बड़े संगीतज्ञों को बुलाऊंगा और सामूहिक गान की शिक्षा दिलाऊंगा।

स्वयं-सेवकों से अधिक अनुशासन, व्यवस्था और ज्ञान की अपेक्षा की जानी चाहिए और अधकचरे स्वयं-सेवक को पूर्ण स्वयं-सेवक के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। ऐसे स्वयं-सेवक सहायक होने के बजाय

वाधक सिद्ध होते हैं। आप कल्पना कीजिये कि युद्ध में संलग्न सेना में एक अप्रशिक्षित सिपाही के प्रवेश पा जाने का क्या परिणाम होगा। वह एक क्षण में उसे अव्यवस्थित कर देगा। मुझे भी असहयोग के संबंध में सबसे बड़ी चिंता यह नहीं कि नेताओं का उसमें धीमा उत्साह है, सद्भावना, यहांतक कि दुर्भावना से की गई आलोचना की चिता तो निश्चय ही नहीं है और कठोर दमन की तो कदापि नहीं। यह आन्दोलन इन बाधाओं को पार कर लेगा, बल्कि इनसे उसे शक्ति भी प्राप्त होगी! लेकिन सबसे बड़ी बाधा यह है कि हम अभी तक भीड़शाही की अवस्था से बाहर नहीं निकल पाये हैं। पर मुझे इस बात से बड़ी सांत्वना है कि भीड़ को प्रशिक्षित करने से अधिक आसान और कोई काम नहीं है। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि भीड़ विचारशील नहीं है, न उसका चिंतन ही होता है। वह तो आवेश के अतिरेक में काम करती है। वह जल्दी ही पश्चात्ताप करने लगती है। हमारी सुसंगठित सरकार जलियावाला, लाहौर, कसूर, अकालगढ़, रामनगर आदि के अपने पैशाचिक अपराधों के लिए पश्चात्ताप नहीं करेगी। लेकिन गुजरांवाला की पश्चात्ताप करती भीड़ की आंखों में मैंने आंसू ला दिये थे और अन्यत्र भी उन लोगों से पश्चात्ताप की खुले आम स्वीकृति कराई है, जिन्होंने अप्रैल के घटनापूर्ण मास में भीड़ खड़ी की थी। इसलिए अब मैं असहयोग का उपयोग लोकतंत्र के विकास के लिए कर रहा हूं और मैं सभी शंकाशील नेताओं से आदरपूर्वक अनुरोध करता हूं कि वे राष्ट्रीय शुद्धीकरण, प्रशिक्षण और बलिदान की प्रक्रिया की आशा में भर्त्सना से अलग रहकर इस कार्य में सहायता दें। मैं ऐसे असंख्य दृष्टांत दे सकता हूं, जबकि एक क्षण में भीड़ की अव्यवस्था के भीतर से व्यवस्था कायम कर दी गई। मुझे जनता पर आगाध विश्वास है। उसके स्वभाव में आश्चर्यजनक संवेदनशीलता है। नेता लोग उसपर अविश्वास न करें।

यंग इंडिया
८ सितंबर, १९२०

: २५ :

ईश्वर और प्रकृति

मैं अपनेको वहुत ही सामान्य व्यक्ति मानता हूं। यदि मेरे अन्दर कोई विशेष शक्ति है तो वह अनन्य निष्ठा से, सत्य और अहिंसा की सेवा करने की मेरी आकांक्षा से उत्पन्न होती है। यह कहना ग़लत है कि "यदि मेरे जैसा व्यक्ति ईश्वर के प्रति इतना भयंकर अपराध कर सकता है कि जिससे उसे इतनी भारी वीमारी का शिकार होना पड़े तो सामान्य मनुष्य ईश्वर के प्रति अपराध से वचे रहने की कदापि आशा नहीं कर सकता।" मैं स्वयं मामूली आदमी हूं। इस कारण किसीको हिम्मत हारने की जरूरत नहीं है। अन्तर का ताप ही भयंकर वीमारी है। एपेंडिक्स का मतलव तो अनावश्यक भाग है। उसकी सूजन एपेंडिसाइटिस है। मेरी राय में इस अनावश्यक भाग की सूजन भयंकर वीमारी नहीं है। मैं मानता हूं कि वुरा वोलना या वुरा काम करना ही भयंकर वीमारी है। ईश्वरीय नियम इतने सूक्ष्म हैं और उनका पालन करना इतना कठिन है कि अनजाने की गई भूलों से भी अपने को वचाने में आत्मा का आरोग्य और कल्याण निहित है। इस प्रकार अपनेको वचाने के प्रयत्न में यदि कोई शारीरिक व्याधि हो जाय तो उसपर शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

अव मैं अपनी मति के अनुसार वताता हूं कि ईश्वर के प्रति विशेष अपराध क्या है। पहले हम भोजन के विपय को लेते हैं। मैं मिताहार की आवश्यकता भली प्रकार जानता हूं। इस नियम का पालन करने का मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है। जिस व्यक्ति का वहुत-सा समय सोचने में जाता है, जो हृदय की गहराई में पैठकर नई-नई खोजें करना चाहता हो

उसे अल्पाहारी होना ही चाहिए। उसे दुबले होने से नहीं डरना चाहिए। मैं इस अर्थ में कभी अल्पाहारी नहीं रहा, न आज भी हूं। शरीर के दुबले-पन के बारे में उदासीन होना मैंने नहीं सीखा। मैं अपने स्वास्थ्य को बनाये रखना चाहता हूं और सोचना और विचारना भी चाहता हूं। मैं इसी द्वन्द्व में पड़ा हूं। मेरे प्रयोग चलते ही रहते हैं, लेकिन मैं अबतक यह पता नहीं लगा सका कि मेरे अल्पाहार की मात्रा क्या हो। यह कार्य जादू से नहीं हो सकता। स्वाभाविक रूप से किये गए परिवर्तन जारी रखे जा सकते हैं। अल्पाहारी के लिए आवश्यक है कि वह भोजन के स्वाद के प्रति उदासीन रहने का प्रयत्न करे। मैं अस्वाद-व्रत के पालन का कठोर प्रयत्न करता हूं, लेकिन फिर भी मैं उसकी सिद्धि से बहुत दूर हूं। मैंने जीविका के लिए केवल बकरी का दूध लिया है, लेकिन इसमें भी मैंने अपने मन को स्वाद लेते पकड़ा है। जबतक भोजन में यह स्वाद है, तबतक बीमारी का खतरा बना है। स्वाद को जीतने में असफल होना ही ईश्वर के प्रति अपराध है।

लेकिन मैं अपने विकारों तथा इच्छाओं पर भी क्या काबू पा सका हूं ? जिन्होंने मेरे जेल के अनुभव पढ़े हैं, वे जानते होंगे कि जेल में भी मेरे भाग्य में संघर्ष ही बदे थे। निश्चय ही मैंने अपने पूरे अनुभवों का वर्णन नहीं किया है। अपने लोगों के साथ के संघर्ष तक का मैंने उल्लेख नहीं किया है। जो धार्मिक दृष्टि से इन लड़ाइयों को लड़ते हैं, वे ही जानते हैं कि इन लड़ाइयों में कितनी पीड़ा समाई रहती है। यदि हम इन लड़ाइयों को राग-द्वेष से मुक्त होकर लड़ सकें तो हमें शारीरिक व्याधियां कदापि न भोगनी पड़ें। लेकिन मुझे गुस्सा आता है। मुझे अच्छाई से सुख मिलता है। बुराई से दुखी होता हूं। मैं इसे प्रकट नहीं होने देता, तो उससे क्या अंतर पड़ता है ? मैं ही जानता हूं कि इन लड़ाइयों के लिए कितने प्रयत्न की आवश्यकता होती है। राग-द्वेष को जीतने के लिए जितना प्रयास करना पड़ता है, उसका सौवां भाग भी, बिजली के किसी बड़े प्रयोग के करने में नहीं करना पड़ता। और लड़ाई में इस विजय से जो आनंद मिलता है, वह न्यूटन के उस

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की खोज के आनंद से भी कहीं अधिक होता है। जेल में मेरे क्रोध करने के कई अवसर आये। उन अवसरों पर मन को वश में रखना वहुत ही कठिन था। जेल के वातावरण के विरुद्ध काम करने में वड़े प्रयत्न की ज़रूरत होती है। ऐसे अवसरों पर उभरे क्रोधादि जैसे विकार शरीर पर अपना प्रभाव डाले विना नहीं रहते। अन्त में स्वप्नों के विकारों के बारे में मुझे लिखना ही पड़ता है। जवतक विचार-सम्वन्धी विकार जीत नहीं लिये जाते तवतक शारीरिक व्याधि का भय वना ही रहेगा।

सचाई यह है कि मनोविज्ञान के अध्ययन में अभी तक हमारी गति नहीं के वरावर है। वैद्य, हकीम और डाक्टर अभी तक केवल शरीर से चिपके रहे हैं, और उन्होंने मन का तनिक भी विश्लेषण नहीं किया है। वे स्वयं विकारों के वश हो जाते हैं, इसलिए उन्होंने शरीर-संवंधी परिवर्तनों को देखकर ही उपाय खोजने में अपना समय लगाया है।

मनोविकारों का शरीर पर कितना भयंकर प्रभाव पड़ता है, इसकी उन्होंने सावधानी से जांच नहीं की। वाह्य औषधि की सहायता के विना केवल इंद्रियों के दमन से किस प्रकार व्याधियों से वचा जा सकता है, इसकी खोज तो अभी होनी है। यह कहना अधिक सच होगा कि ऐसी खोजें हुई तो हैं, लेकिन वाद में भुला दी गई हैं। यदि आधुनिक वैद्य और हकीम शारीरिक व्याधियों की जांच करते समय आत्मा को ध्यान में रक्खें तो मुझे विश्वास है कि वे वाह्योपचार की अपेक्षा मानसोपचार की पद्धति का पुनरुद्धार करेंगे। वे सव प्रकार के सीरम की सुइयां देकर जो कि वास्तव में रोग के संक्रामक रूप हैं, शरीर को दूषित करने के वजाय, आरोग्य-पालन के प्राकृतिक अर्थात् ईश्वरीय नियमों को समझाने के लिए तत्पर होंगे। कुछ ऐसे ही विचारों को ध्यान में रखकर मैंने आरोग्य पर अपनी पुस्तक लिखी थी। मैं इस दिशा में वहुत सारे प्रयोग करना चाहता था और उन प्रयोगों को करते-करते वीमार पड़ गया। इसके परिणाम-स्वरूप मेरा आत्म-विश्वास जाता रहा। सत्याग्रह के आंदोलन को चलाने की ज़िम्मेदारी से भी मेरे

रास्ते में रुकावट आई। अगर इससे मुझे मुक्ति मिले, तो मैं अपने प्रयोगों को फिर से हाथ में लूं।

इस बीच मैं यह कहना चाहूंगा कि मुझे जो-जो बीमारियां हुईं, उनमें से प्रत्येक का मुख्य कारण मैं स्वयं था, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अब भी यदि मैं अपने विचारों में निर्विकार हो सकूं तो मेरा शरीर इस जन्म में ही स्वस्थ हो जाय, दुबला होते हुए भी फौलाद जैसा मजबूत हो जाय और छूत आदि से मुक्त हो जाय।

इस लेख से यही सार निकालना चाहिए कि मनुष्य मनोविकारों को जीतकर ही नीरोग बन सकता है। यदि वह इस प्रयत्न में असफल होता है तो इससे घबराये नहीं, बल्कि अपने प्रयत्नों को जारी रखे। अपने फल की सिद्धि न होने पर हताश न हो, बल्कि अपनी निष्ठा को बनाये रखकर प्रयास करता रहे। अपने शरीर को वह कितना ही लाड़-प्यार करे, वह नष्ट होकर ही रहेगा। वह नहीं जानता कि उसका अन्त कब आयेगा, और उसे उस चीज़ के साथ बहुत ज्यादा प्रेम नहीं रखना चाहिए, जो कांच की चूड़ी से भी अधिक नाजुक है। अपने मन को छलने की अपेक्षा, उसे जानना चाहिए कि जिन व्याधियों से वह पीड़ित है, उनमें से अधिकतर का कारण ईश्वर के सामान्य नियमों का उल्लंघन है।

हम ग़लती से यह मानने लगे हैं कि इन नियमों का पालन बड़ा कठिन है। अपने आलस्य-वश हम यह समझ लेते हैं कि चूंकि हर कोई ऐसा कहता है इसलिए यह ठीक ही होगा। यदि हम बलपूर्वक प्रयत्न करें तो हमें पता चलेगा कि मनुष्य के लिए विकारों के अधीन होना नहीं, बल्कि उन्हें जीतना स्वाभाविक है।

नवजीवन (गुजराती)
२९ जून, १९२४

: २६ :

ईश्वर का अस्तित्व

पत्र-लेखक प्रायः इन पृष्ठों में मुझे ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देने के लिए आमंत्रित किया करते हैं। यह मुझे उस चीज़ का दण्ड भुगतना पड़ता है, जिसे एक अंग्रेज़ मित्र ईश्वर के नाम की रटन कहते हैं। हालांकि इन स्तम्भों में ऐसे सभी प्रश्नों पर विचार करना असंभव है, फिर भी इस सवाल का जवाव देना तो ज़रूरी है।

"१२ मई १९२७ के आपके 'यंग-इण्डिया' को मैंने पढ़ा। उसमें आपने लिखा है, 'इस दुनिया में निश्चयता की आशा रखना भूल है। यहां तो परमात्मा अर्थात् सत्य को छोड़कर सवकुछ अनिश्चित है।'

"आपने 'यंग इंडिया' में आगे लिखा है, 'परमात्मा अत्यन्त सहिष्णु और धैर्यवान है। वह अत्याचारी को समय-समय पर गंभीर चेतावनी भी देता रहता है और अपना अंत आप करने के लिए छोड़ देता है।'

"मैं विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं कि ईश्वर का अस्तित्व निश्चित नहीं है। उसका लक्ष्य चारों ओर सत्य का प्रसार करना होना चाहिए। वह संसार में सभी प्रकार के वुरे लोगों को क्यों रहने देता है? वुरे लोग अपनी विवेकहीनता को लेकर सर्वत्र फल-फूल रहे हैं और छूत फैला रहे हैं और इस प्रकार अनीति तथा वेईमानी की विरासत आनेवाली पीढ़ी को देते हैं।

"ईश्वर त्रिकालदर्शी और सर्वशक्तिमान है, तव वह अपनी सर्वज्ञता से वुराई को जानकर, अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सारी शैतानी को आरम्भ होते ही क्यों नष्ट नहीं कर देता, और वुरे लोगों को फलने-फूलने से रोक देता?

"फिर ईश्वर को, क्यों इतना सहिष्णु और धैर्यवान होना चाहिए? ऐसा होकर वह क्या प्रभाव डाल सकता है? दुनिया अपनी तमाम दुष्टता, बेईमानी तथा क्रूरता के साथ आगे बढ़ती जाती है। यदि ईश्वर अत्याचारी को अपनी जड़ काटने के लिए छोड़ देता है, तो वह ग़रीब को सताने से पहले ही अत्याचारी को क्यों नहीं समाप्त कर देता? वह क्यों अत्याचार को भरपूर रंग दिखाने देता है और जब उसके अत्याचार से हज़ारों आदमी बरबाद और पतित हो जाते हैं, तब उसे मरने के लिए छोड़ देता है?

"दुनिया आज भी उतनी ही बुरी है, जितनी पहले कभी थी। उस ईश्वर में विश्वास क्यों किया जाय, जो दुनिया को बदलने और उसे भले और पुण्यात्मा लोगों का स्थान बनाने में अपनी शक्ति का उपयोग नहीं करता?

"मैं जानता हूं कि गंदे लोग बुराइयां करते हुए दीर्घायु होते हैं और स्वस्थ रहते हैं। अपनी बुराई के कारण गंदे लोग जल्दी ही क्यों नहीं मर जाते? मैं ईश्वर में विश्वास करना चाहता हूं, लेकिन मेरे विश्वास के लिए कोई आधार नहीं है। कृपया 'यंग इण्डिया' द्वारा मुझे मार्ग दिखाइये, और मेरे अविश्वास को विश्वास में परिणत कर दीजिये।"

यह तर्क बाबा आदम जितना पुराना है। मेरे पास इसका कोई मौलिक उत्तर नहीं है। लेकिन तो भी मैं बतलाऊंगा कि मैं ईश्वर में क्यों विश्वास करता हूं। ऐसा करने की प्रेरणा मुझे इसलिए होती है, क्योंकि मुझे मालूम है कि ऐसे भी नौजवान हैं, जो मेरे विचारों और कार्यों में दिलचस्पी रखते हैं।

एक ऐसी अकथनीय, अज्ञात शक्ति है, जो सर्वत्र व्याप्त है। मैं उसका अनुभव करता हूं, हालांकि उसे देख नहीं पाता। यही अदृश्य शक्ति है, जो अपने को अनुभव होने देती है, फिर भी उसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता, कारण कि यह उन सबसे भिन्न है, जिनका अनुभव, मैं अपनी इंद्रियों से करता हूं। यह इंद्रियों से परे है।

लेकिन ईश्वर के अस्तित्व को कुछ हद तक प्रमाणित करना संभव है।

मामूली चीज़ों में भी हम जानते हैं कि लोगों को पता नहीं होता कि कौन या क्यों और कैसे शासन करता है। पिछले साल, मैसूर के मेरे प्रवास में, मैं बहुत-से ग़रीब देहातियों से मिला था। पूछने पर मालूम हुआ कि वे नहीं जानते कि मैसूर का शासक कौन है। उन्होंने केवल यही कहा कि कोई देवता राज्य करता है। यदि इन गरीब लोगों का ज्ञान अपने शासक के विषय में इतना सीमित है, तब उनके शासक को आश्चर्य नहीं करना चाहिए, यदि मैं राजाओं के राजा, ईश्वर के अस्तित्व को अनुभव नहीं करता, तो भी जैसाकि ग़रीब देहाती अनुभव करते हैं, मैं भी अनुभव करता हूं कि इस संसार में, जिन चीज़ों तथा व्यक्तियों का अस्तित्व है, उनका संचालन एक अटल नियम के द्वारा होता है। वह कोई अंधा नियम नहीं है, क्योंकि सर जगदीशचंद्र वसु के अद्वितीय अन्वेषणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि द्रव्य में भी जीवन है। तब जो नियम सभी प्राणियों का नियमन करता है, वह ईश्वर है। नियम और नियमकर्ता दोनों एक हैं। मैं नियम या नियमकर्त्ता किसी के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकता, क्योंकि मैं उनके बारे में बहुत कम जानता हूं। किसी भौतिक सत्ता के अस्तित्व के बारे में मेरी अस्वीकृति, अथवा अज्ञान से जिस प्रकार मुझे कुछ लाभ नहीं हो सकता, उसी प्रकार ईश्वर और उसके नियम से इन्कार करके मैं उनके प्रभाव से बच नहीं सकता। इसके विपरीत दैवी-शक्ति की विनम्र तथा मूक स्वीकृति से जीवन-यात्रा सुगम हो जाती है, जैसेकि सांसारिक शासन को मान लेने से उसके नीचे जीवन सहज हो जाता है।

मुझे धुंधले तौर पर यह अवश्य अनुभव होता है कि जबकि मेरे चारों ओर सबकुछ बदल रहा है, नष्ट हो रहा है तब उस सारे परिवर्तन के पीछे एक जीवंत शक्ति है, जो कभी बदलती नहीं, जो सबको एक सूत्र में बांधकर रखती है, जो सृजन करती है, संहार करती है और फिर सृजन करती है। यही शक्ति अथवा आत्मा ईश्वर है। और चूंकि मैं जिनका केवल इन्द्रियों से अनुभव करता हूं, उनमें से कुछ भी न टिक सकेगा, न टिकेगा, इसलिए ईश्वर का ही एकमात्र अस्तित्व है।

और यह शक्ति शुभ है या अशुभ है? मैं इसे शुद्ध इष्टकर रूप में देखता हूं, क्योंकि मैं देखता हूं कि मृत्यु के वीच भी जीवन कायम रहता है, असत्य के वीच भी सत्य का अस्तित्व वना रहता है, और अंधकार के वीच प्रकाश का, इसलिए मैं मानता हूं कि ईश्वर ही जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है। वही परम इष्ट है।

लेकिन जिससे महज वुद्धि का संतोष हो, यदि उसके द्वारा ऐसा होता हो, तो वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर तो तभी ईश्वर हो सकता है, जवकि उसका साम्राज्य हृदय पर हो, और वह उसे वदल सके। अपने भक्त के छोटे से छोटे काम में भी उसकी झलक मिलनी चाहिए। यह तभी संभव हो सकता है, जवकि पंचेंद्रियों से होनेवाले ज्ञान की अपेक्षा उसकी अधिक सच्ची अनुभूति हो। इंद्रियों से हमें जो अनुभव होता है, वह कितना ही सच्चा क्यों न दिखाई दे, झूठा और धोखा देनेवाला हो सकता है, अक्सर होता है। जहां इन्द्रियों से परे अनुभूति होती है, उसमें भूल नहीं होती। यह वाहरी प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता, वल्कि संसार में ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व की अनुभूति करनेवाले लोगों के परिर्वातत व्यवहार तथा चरित्र से होता है।

इस प्रकार की साक्षी सारे देशों और जातियों के पैगम्वरों तथा ऋषि-मुनियों की अटूट श्रृंखला के अनुभवों में पाई जाती है। इस प्रमाण से इंकार करना अपने अस्तित्व से ही इंकार करना है।

इस अनुभूति से पहले अचल श्रद्धा उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति अपने शरीर में, ईश्वर की उपस्थिति की परीक्षा करना चाहे वह जीवंत श्रद्धा के द्वारा वैसा कर सकता है और चूंकि श्रद्धा वाहरी प्रमाण से सिद्ध नहीं की जा सकती, इसलिए सवसे सुरक्षित मार्ग है, संसार के नैतिक शासन में विश्वास रखना और इसलिए नैतिक नियम, सत्य और प्रेम के नियम की सर्वोपरिता में श्रद्धा रखना। सत्य और प्रेम के विरुद्ध जो भी हो, उस सवको एकदम अस्वीकार कर देने का जहां स्पष्ट निश्चय हो, वहां श्रद्धा का सहारा ही सवसे अधिक सुरक्षित होता है।

लेकिन इससे पत्र-लेखक की दलील का उत्तर नहीं मिलता। मैं मानता हूं कि वुद्धि द्वारा, उनका समाधान करने के लिए मेरे पास दलील नहीं है। श्रद्धा वुद्धि से परे है। मैं उन्हें इतनी ही सलाह दे सकता हूं कि वह असंभव काम को करने का प्रयत्न न करें। युक्तियों के द्वारा मैं वुराइयों के अस्तित्व का कारण नहीं समझा सकता। ऐसा करने की इच्छा करना ईश्वर की वरावरी करना है। इसलिए मैं वुराई को वुराई मान लेने की विनम्रता रखता हूं। और मैं ईश्वर को सहिष्णु और धैर्यवान ठीक इसीलिए कहता हूं क्योंकि वह संसार में वुराइयों को भी रहने देता है। मैं जानता हूं कि उसके अन्दर कोई वुराई नहीं है, और फिर भी यदि वुराई है तो वही उसका स्रष्टा है और तो भी उससे अछूता है।

मैं यह भी जानता हूं कि अगर मैं अपनी जान की वाजी लगाकर भी वुराई के विरुद्ध संघर्ष नहीं करूंगा, तो मैं ईश्वर को कभी नहीं जान सकता। मेरी श्रद्धा का कवच तो मेरा अपना ही नम्र सीमित अनुभव है। मैं जितना ही शुद्ध वनने का प्रयत्न करता हूं उतना ही ईश्वर के निकट अपनेको अनुभव करता हूं। जव मेरी श्रद्धा, महज नाम की नहीं रहेगी, जैसीकि वह आज है, वल्कि जिस दिन वह हिमालय के समान अटल और उसके शिखरों के हिम की भांति शुभ्र और चमकीली हो जायगी, उस दिन मैं ईश्वर के कितना अधिक निकट होऊंगा? तवतक मैं पत्र-लेखक से कहूंगा कि वह न्यूमैन के समान प्रार्थना करे, जिसका पाठ उन्होंने अपने अनुभव से किया था :

लिये चलो ज्योतिर्मय मुझको सघन तिमिर से लिये चलो,
रात अंधेरी, दूर गेह है, मुझे सहारा दिये चलो।
थामो ये मेरे डगमग पग
दूर दृश्य चाहे न चलें दृग
मुझे अलं है देव, एक डग।

यंग इण्डिया
११ अक्तूबर, १९२८

: २७ :

सत्य और ईश्वर

आपने मुझसे पूछा है कि मैं क्यों मानता हूं कि ईश्वर सत्य है। बचपन में मुझे सिखाया गया था कि मैं हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में, जिन्हें ईश्वर के सहस्र-नाम कहा गया है, उनका जाप करूं। लेकिन ईश्वर के वे सहस्रनाम किसी प्रकार पूर्ण नहीं थे। हमारा विश्वास है और मैं मानता हूं कि यह सत्य है कि ईश्वर के उतने ही नाम हैं, जितने प्राणी हैं और इसीलिए हम यह भी कहते हैं कि वह बिना नाम का है, और चूंकि ईश्वर के बहुत, से रूप हैं, हम उसे निराकार भी कहते हैं और चूंकि वह बहुत-से मुखों से बोलता है, इसलिए हम उसे निर्विकार कहते हैं, आदि-आदि। जब मैं इस्लाम का अध्ययन करने लगा, तो मुझे मालूम हुआ कि इस्लाम में भी ईश्वर के बहुत-से नाम हैं। जो यह कहते हैं कि ईश्वर प्रेम है, उनके साथ मैं भी कहूंगा कि ईश्वर प्रेम है। लेकिन अपने अन्तर में मैं कहा करता था कि हालांकि ईश्वर, ईश्वर हो सकता है, पर ईश्वर सत्य है। सबसे बड़ी बात यह कि यदि मनुष्य के लिए, ईश्वर का पूरा विवरण प्रस्तुत करना संभव है, तो भी मैं इस निर्णय पर आया कि मेरे लिए ईश्वर सत्य है। लेकिन दो वर्ष हुए मैं एक कदम और आगे बढ़ा और मैंने कहा कि सत्य ही ईश्वर है। आप देखेंगे कि दोनों कथनों, अर्थात् ईश्वर सत्य है और सत्य ईश्वर है के बीच बारीक अन्तर है। सत्य की मेरी खोज लगभग पचास साल पहले आरम्भ हुई थी, और तबसे लगातार और कड़ी खोज के उपरान्त मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं। तब मुझे पता चला कि सत्य के निकट प्रेम के द्वारा ही पहुंचा जा सकता था। लेकिन मुझे यह भी पता

चला कि कम-से-कम अंग्रेजी भाषा में प्रेम के वहुत-से अर्थ हैं और मानवीय प्रेम वासना के रूप में एक गिरावट की चीज भी हो सकती है। मुझे यह भी मालूम हुआ कि संसार में अहिंसा की भावना की दृष्टि से प्रेम के पुजारियों की संख्या वहुत सीमित है। लेकिन सत्य के सम्वन्ध में मुझे दोहरा अर्थ कभी नहीं मिला और अनीश्वरवादी तक भी सत्य की इस आवश्यकता या शक्ति के वारे में शंकालु नहीं थे। लेकिन सत्य की खोज करने के आवेश में अनीश्वरवादियों ने ईश्वर की उपस्थिति-मात्र से इंकार करने में झिझक नहीं की, जो कि उनके दृष्टि-विन्दु से ठीक ही था। और इस तर्क के आधार पर ही, मैंने देखा कि यह कहने की वजाय कि ईश्वर सत्य है, मुझे कहना चाहिए कि सत्य ईश्वर है। मुझे चार्ल्स ब्रैडला का नाम याद आता है, जो अपनेको नास्तिक कहने में खुश होते थे, लेकिन जितना मैं उन्हें जानता हूं, उसकी वुनियाद पर मैं उन्हें नास्तिक नहीं मान सकता। मैं उन्हें भगवत्-भीरु व्यक्ति कहूंगा, हालांकि मैं जानता हूं कि वह इस दावे को अस्वीकार कर देंगे। यदि मैं यह कहूं, कि मि० ब्रैडला, आप सत्य-भीरु हैं, ईश्वर-भीरु नहीं, तो उनका चेहरा लाल पड़ जायगा। मैं उनकी आलोचना को यह कहकर पस्त कर दूंगा कि सत्य ईश्वर है, जैसे कि मैंने वहुत-से नौजवानों की आलोचनाओं को वेकार कर दिया है। इसके साथ सवसे वड़ी कठिनाई यह है कि लाखों आदमियों ने ईश्वर का नाम लिया है और उसके नाम में अनगिनत अत्याचार किये हैं। यह नहीं कि वैज्ञानिक, सत्य के नाम पर, वहुत वार निर्दयता नहीं दिखाते। मैं जानता हूँ कि सत्य और विज्ञान के नाम पर जानवरों के प्रति कितनी अमानवीय निर्दयता की गई है, जवकि मनुष्य उनका वध करते हैं। इस प्रकार आप ईश्वर को भले ही किसी प्रकार अंकित करें, रास्ते में वहुत सी कठिनाइयां आती हैं। लेकिन मनुष्य का मस्तिष्क सीमित होता है और आप जव किसी आत्मा या सत्ता के वारे में सोचते हैं, जिसे समझना मनुष्य की शक्ति से परे है, तो आपको सीमाओं के वीच काम करना पड़ता है। और फिर हिन्दू-दर्शन में एक वात और है, यानी केवल ईश्वर है, और

किसी चीज का अस्तित्व नहीं है और इसी सत्य पर इस्लाम के कलमे में जोर दिया गया है और उसे मिसाल के रूप में पेश किया गया है। उसमें आपको स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि केवल ईश्वर है और कोई चीज नहीं है। पर वास्तव में सत्य के लिए संस्कृत में एक शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, वह, जिसका अस्तित्व है, यानी सत्। इन तथा ऐसे ही दूसरे तर्कों से, जो मैं आपको दे सकता हूं, मैं इस निर्णय पर आया हूं कि सत्य ईश्वर है। यह परिभाषा मुझे सबसे अधिक संतोष देती है और जब आप ईश्वर के रूप में सत्य को पाना चाहते हैं, तो उसका एकमात्र अनिवार्य साधन प्रेम है, यानी अहिंसा। और चूंकि मैं मानता हूं कि अन्ततोगत्वा साधन और साध्य एक दूसरे में बदलनेवाली चीजें हैं, मुझे यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि ईश्वर प्रेम है।

तब सत्य क्या है? यह एक मुश्किल सवाल है, लेकिन मैंने उसे यह कहकर अपने लिए सुलझा लिया है कि सत्य वह है, जो आपकी अन्तरात्मा कहती है। आप पूछते हैं कि तब विभिन्न व्यक्ति क्यों दूसरे प्रकार के और विरोधी सत्यों की सोचते हैं? यह देखकर कि मनुष्य का दिमाग असंख्य माध्यमों से काम करता है और आदमी के इस मस्तिष्क का विकास सबके लिए एक समान नहीं होता, निष्कर्ष निकलता है कि जो एक के लिए सत्य हो सकता है, वह दूसरे के लिए असत्य हो सकता है और इसलिए जिन्होंने ये प्रयोग किये हैं, वे इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि इन प्रयोगों के करने में कुछ शर्तें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं। जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रयोगों के करने में कुछ वैज्ञानिक-शिक्षण अनिवार्य होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयोग करने के लिए मनुष्य को योग्यता प्राप्त करने के हेतु कठोर प्रारम्भिक अनुशासन आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा की बात कहने से पहले अपनी मर्यादाओं को समझ लेना चाहिए। अतः अनुभव के आधार पर हमारा विश्वास है कि जो सत्य रूपी ईश्वर की निजी खोज करना चाहते हैं, उन्हें कुछ बातों का पालन करना होगा। उदाहरण के लिए सत्य का व्रत, सत्य की शपथें, ब्रह्मचर्य,

पवित्रता का व्रत, क्योंकि आप व्रत, सत्य और ईश्वर के प्रति अपने प्रेम का बंटवारा संभवतः और किसीके साथ नहीं कर सकते, अहिंसा का व्रत, गरीवी का व्रत और अपरिग्रह का व्रत। जवतक आप अपने ऊपर पंच महाव्रतों को आरोपित नहीं करते, तवतक आप प्रयोग कदापि आरम्भ नहीं कर सकते। कुछ और भी शर्तें निर्धारित हैं, लेकिन मैं उन सबको आपको नहीं वताऊंगा। इतना कहना काफी होगा कि जिन्होंने ये प्रयोग किये हैं, वे जानते हैं कि हर किसी के लिए यह दावा करना उचित नहीं कि वह अन्तरात्मा की आवाज सुनता है और चूंकि इस समय हमारे वीच विना किसी प्रकार के अनुशासन का पालन किये, हर कोई अन्त-रात्मा के अधिकार का दावा करता है और भटकती दुनिया में इतना असत्य चल रहा है, मैं सच्ची विनम्रता के साथ केवल यही कह सकता हूं कि जिसमें विनयशीलता की पर्याप्त भावना नहीं है, वह सत्य को नहीं पा सकता। यदि आप सत्य-रूपी सागर के वक्ष पर तैरना चाहते हैं, तो आपको अपनेको शून्यवत वनाना होगा। इससे और आगे मैं इस आकर्षक मार्ग पर नहीं जा सकता।

यंग इंडिया
३१ दिसम्बर, १९३१

: २८ :

प्रत्यक्ष ईश्वर कहां है ?

वंगाल के एक पत्र में लिखा है :

"'एक नवयुवक की कठिनाई' शीर्षक से आपने संतति-नियमन के सम्वन्ध में जो लिखा है, उसे पढ़ने का मुझे सौभाग्य मिला।

"आपके लेख के मूल विषय से मैं पूरी तरह सहमत हूं। लेकिन उस लेख में आपने ईश्वर के वारे में एक पंक्ति में अपनी भावना व्यक्त की है। आपने कहा है कि आजकल यह फैशन-सा हो गया है कि नौजवान ईश्वर के विचार को त्याग देते हैं और प्रत्यक्ष ईश्वर में सजीव विश्वास नहीं रखते।

"लेकिन क्या मैं आपसे पूछ सकता हूं कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में आप ऐसा प्रमाण दे सकते हैं, जो निश्चित और तर्कातीत हो? मुझे लगता है कि हिन्दू दार्शनिक अथवा प्राचीन ऋषि ईश्वर के स्वरूप या वास्तविकता को वताने के प्रयास में अन्ततः इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि ईश्वर अनिर्वचनीय और माया से आच्छन्न आदि है। संक्षेप में, उन्होंने ईश्वर को दुर्वोधता के अभेद्य आवरण में लपेट दिया है और ईश्वर के जटिल प्रश्न को सरल वनाने की अपेक्षा और भी उलझा दिया है। मैं इस वात से इंकार नहीं कर सकता कि आप या श्रीअरविन्द-जैसे सच्चे महात्मा, अथवा बुद्ध और प्राचीन काल के शंकराचार्य ऐसे ईश्वर की कल्पना और उसके अस्तित्व की अनुभूति कर सकते हैं, जो सामान्य मानव-वुद्धि से वहुत परे है।

"पर हम-जैसे मामूली लोग, जिनकी मन्दवुद्धि कभी अगम्य गहराई

तक नहीं पहुंच सकती, ऐसे ईश्वर को लेकर क्या करें, यदि हमें अपने बीच उसका अस्तित्व अनुभव नहीं होता? अगर ईश्वर हम सबका स्रष्टा और पिता है तो अपने हृदय पर प्रत्येक धड़कन के साथ हम उसकी उपस्थिति या अस्तित्व को क्यों नहीं अनुभव करते? अगर वह अपनी उपस्थिति को महसूस नहीं करा सकता, तो वह मेरे लिए ईश्वर नहीं है। इसके अतिरिक्त मेरे सामने प्रश्न है कि यदि वह इस सृष्टि का जनक है, तो क्या वह अपने बच्चों के कष्टों को अनुभव करता है? अगर ऐसा है, तो उसने बिहार और कोटा के प्रलयंकारी भूकम्पों के द्वारा अपने बच्चों पर क्यों इतना कहर बरपा किया और दुःख दिया? अबीसीनियनों के निरपराध राष्ट्र को क्यों नीचा दिखाया? क्या अबीसीनियन उसकी सन्तान नहीं थे? क्या वह सर्वशक्तिमान नहीं है? तब वह इन विपत्तियों को क्यों नहीं रोकता? हमारी पराधीनता से पीड़ित, भारत-माता की स्वतन्त्रता के लिए, आपने अहिंसा और सत्य की लड़ाई की और ईश्वर की मदद मांगी, लेकिन मेरा विचार है कि वह मदद आपको मिली नहीं, और भौतिकता की मजबूत शक्ति, जो ईश्वर की शक्ति पर कभी निर्भर नहीं करती, आप पर विजयी हुई और उसने आपको अपमानित किया और आप अवकाश ग्रहण करके पीछे हट जाने को बाध्य हुए। यदि ईश्वर होता, तो उसने आपकी अवश्य सहायता की होती, क्योंकि आपका ध्येय वास्तव में वांछनीय था। इस प्रकार के और उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है।

"इसलिए आजकल के नौजवान ईश्वर में विश्वास नहीं करते, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि वे ईश्वर की कोई कल्पना नहीं करना चाहते, वे वास्तविक तथा सजीव ईश्वर चाहते हैं। आपने अपने लेख में सजीव ईश्वर में सच्चा विश्वास रखने का उल्लेख किया है। यदि आप ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कुछ निश्चित और असंदिग्ध प्रमाण प्रस्तुत कर सकें, तो मैं आपका बड़ा कृतज्ञ होऊंगा और मैं समझता हूं कि ऐसा करके आप नवयुवकों का बहुत ही हित करेंगे। मुझे यह भी

विश्वास है कि जो समस्या पहले से ही रहस्यपूर्ण है, उसे आप और अधिक रहस्यपूर्ण नहीं बनायंगे और इस विषय पर कुछ निश्चित प्रकाश डालेंगे।"

मुझे वड़ा भय है कि मैं जो कहने जा रहा हूं उससे वह आवरण दूर नहीं होगा, जिसका पत्र-लेखक ने उल्लेख किया है।

पत्र-लेखक का विचार है कि मुझे प्रत्यक्ष ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति हो गई है। मैं ऐसा कोई दावा नहीं कर सकता। लेकिन वैज्ञानिकों द्वारा बताई हुई बहुत-सी बातों में भी जैसे मेरा सजीव विश्वास है, वैसे ही मैं प्रत्यक्ष ईश्वर में जीवंत विश्वास रखता हूं। कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक जो बातें कहते हैं, उनकी, माने हुए तथ्यों की उपलब्धि के लिए, बताई गई विधि के अनुसार कोई भी परीक्षा कर सकता है। ठीक उसी प्रकार ऋषि और पैगम्बर भी तो कहते हैं। उनका कहना है कि वे जिस रास्ते पर चले हैं, उसपर चलकर कोई भी ईश्वर को पा सकता है। सचाई यह है कि हम उस उपलब्धि तक पहुंचानेवाले रास्ते पर चलना नहीं चाहते और न उस चीज के बारे में प्रत्यक्षदर्शियों की साक्षी को मानते हैं, जो आवश्यक है। भौतिक विज्ञान की सारी सफलताएं एक-साथ रखकर भी उस बात का मुकाबला नहीं किया जा सकता, जो हमें ईश्वर में सजीव श्रद्धा प्रदान करती है। जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करना चाहते, वे शरीर को छोड़ और किसी बात के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। मानवता की प्रगति के लिए ऐसा विश्वास आवश्यक माना जाता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए आत्मा या ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण में भारी-से-भारी तर्क भी व्यर्थ है। जिस मनुष्य ने अपने कानों को बन्द कर लिया है, उसे आप बढ़िया-से-बढ़िया संगीत भी नहीं सुनवा सकते, उसकी सराहना तो भला वह क्या करेगा। इसी प्रकार आप उन लोगों को भी प्रत्यक्ष ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं दिला सकते, जो विश्वास करना ही नहीं चाहते।

सौभाग्य से बहुत बड़ी संख्या में लोग प्रत्यक्ष ईश्वर में सजीव विश्वास रखते हैं। वे उसके सम्बन्ध में न कोई तर्क कर सकते हैं, न करेंगे। उनके

लिए तो ईश्वर सचमुच है ही। क्या संसार के सारे धर्म-शास्त्र बूढ़ी दादी की कही अन्ध-विश्वास की केवल कहानियां हैं? क्या ऋषियों, पैगम्बरों की साक्षी अमान्य ठहराने को है? क्या चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, तुकाराम, ज्ञानदेव, रामदास, नानक, कवीर, तुलसीदास ने जो कहा, उसका कोई मूल्य नहीं है? राममोहन राय, देवेन्द्र ठाकुर, विवेकानन्द के वारे में क्या कहेंगे? ये सव तो आधुनिक व्यक्ति हैं और आज के ऊंचे-से-ऊंचे लोगों की भांति शिक्षित हैं। मैं उन जीवित साक्षियों को छोड़ देता हूं, जिनकी साक्षी निर्दोष समझी जायगी। ईश्वर में यह विश्वास श्रद्धा पर अवलम्बित है, जो तर्क से परे है। वास्तव में जिसे हम अनुभूति कहते हैं, उसकी जड़ में भी श्रद्धा का तत्व है। इसके विना वह टिक ही नहीं सकती। स्थिति ही ऐसी है कि यही होना चाहिए। अपने अस्तित्व की मर्यादाओं को कौन लांघ सकता है? मैं मानता हूं कि हमारे इस जीवन में उसकी पूर्ण अनुभूति असम्भव है। वह आवश्यक भी नहीं है। मनुष्यों को इस आध्यात्मिक ऊंचाई तक पहुंचने के लिए, सजीव और अविचल श्रद्धा की नितान्त आवश्यकता है। ईश्वर इस भूमण्डल से परे नहीं है। इसीलिए वाहर का कोई प्रमाण हो भी, तो वह वहुत कारगर नहीं है। अपनी इन्द्रियों द्वारा हम ईश्वर को कभी नहीं पा सकते, क्योंकि वह उनसे परे है। अगर हम चाहें तो उसे अनुभव कर सकते हैं, पर इसके लिए हमें इन्द्रियों से ऊपर उठना होगा। हमारे अन्दर दैवी संगीत निरन्तर चलता रहता है, पर हमारी आत्मा के कोलाहल में वह नाजुक संगीत विलीन हो जाता है। अपनी इन्द्रियों से हम जो कुछ समझ या सुन सकते हैं, उससे वह भिन्न और कहीं ऊँचे दर्जे का है।

लेखक जानना चाहते हैं कि यदि ईश्वर दया और न्याय का अधिष्ठाता है, तो क्यों वह उन दुःखों और शोकों को होने देता है, जिन्हें हम अपने चारों ओर देखते हैं? मैं इसका कोई संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। वह मुझपर पराजित और अपमानित होने की भावना आरोपित करते हैं। मुझमें पराजय, अपमान या निराशा की ऐसी कोई भावना

नहीं है। मेरे अवकाश-ग्रहण करने का पराजय से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो आत्म-शुद्धि और अपनी तैयारी का प्रयत्न है, न उससे अधिक, न कम। यह मैं सिर्फ इतना बताने के लिए कह रहा हूं कि जो चीजें हमें जैसी दिखाई देती हैं, वैसी वे प्रायः होती नहीं हैं। हो सकता है, जिन चीजों को हम गलती से शोक, अन्याय या वैसा ही कुछ मानते हैं, वे वास्तव में वैसी न हों। यदि हम सृष्टि के सारे रहस्यों को सुलझा सकें, तो हम ईश्वर के समक्ष होंगे। सागर की प्रत्येक बूंद, उसके वैभव की साझीदार होती है, लेकिन वह सागर नहीं होती। अपने इस छोटे-से जीवन की अल्पता को अनुभव करके ही हम अपनी प्रातःकालीन प्रार्थना के अन्त में इस श्लोक को दोहराते हैं:

विपदो नैव विपदः संपदो नैव सम्पदः
विपद्विस्मरणं विष्णोः संपन्नारायणस्मृतिः॥

जिसे हम विपदा कहते हैं, वह विपदा नहीं है, न सम्पदा है। ईश्वर को भूलना सच्ची विपदा है, उसका स्मरण करना सच्ची सम्पदा है।

हरिजन
१३ जून, १९३६

: २९ :

गीता का अर्थ – १

एक मित्र इस प्रकार प्रश्न करते हैं :

"ऐसा लगता है, गीता के बारे में यह विवाद बहुत समय तक चलता रहेगा कि उसका सन्देश क्या है—हिंसा या अहिंसा ? यह एक बात है कि हम गीता में किस सन्देश को देखते हैं या देखना चाहते हैं, यह दूसरी बात है कि उसको निष्पंक्ष रूप से पढ़ने पर उसमें से क्या अर्थ निकलता है। इसलिए यह प्रश्न उस व्यक्ति के लिए कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करता, जो दिल से अहिंसा को जीवन का शाश्वत सिद्धांत मानता है। वह तो यही कहेगा कि गीता उसे तभी स्वीकार्य है, जब वह अहिंसा की सीख देती हो। गीता जैसे महान ग्रंथ में से उसके लिए अहिंसा के सनातन धार्मिक सिद्धांत से बढ़कर और कोई सिद्धान्त नहीं निकलता। यदि ऐसा नहीं है, तो वह उसकी निर्दोष मार्ग-दर्शिका नहीं रहेगी। वह उसके लिए अब भी बड़े आदर के योग्य ही होगी, लेकिन अचूक प्रमाण नहीं।

"पहले अध्याय को पढ़ने पर यही मालूम होता है कि अहिंसा वृत्ति से प्रेरित होकर अर्जुन अपने हथियार डाल देता है और कौरवों के हाथों मरने को तैयार हो जाता है। हिंसा से होनेवाला पाप और विनाश उसे साफ दिखाई देने लगता है। वह विषाद से आसन्न हो जाता है और भय से कांपते हुए कहता है, 'अहो, बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्'—ओह, हम कितना बड़ा पाप करने जा रहे हैं।

"श्रीकृष्ण उस मनोभाव में उसे पकड़ लेते हैं और उससे कहते हैं, 'बस, रहने दे अपने इस ऊंचे दर्शन को ! न कोई किसीको मारता है, न मरता

है। आत्मा अमर है और शरीर का नाश तो होगा ही। तब कर्त्तव्य के रूप में जो युद्ध सामने आया है, उसे लड़। जीत हो या हार, इससे तुझे कुछ लेना-देना नहीं है। तू तो अपने कर्त्तव्य का पालन कर।"

"ग्यारहवें अध्याय में उसे विश्व-रूप दिखाकर कृष्ण कहते हैं—'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः," मैं काल हूं, लोकों का संहार करनेवाला, महाकाल, यहां मैं लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूं। तू उनका हनन कर, जिन्हें मैंने पहले ही मार डाला है। तू अपनेको लोक के वश मत होने दे।

"ईश्वर की निगाह में हिंसा और अहिंसा दोनों समान हैं। लेकिन मनुष्य के लिए ईश्वर का सन्देश क्या हो सकता है? क्या वह सन्देश यही है :—'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।" तू लड़, क्योंकि यह निश्चित है कि तू रणक्षेत्र में अपने दुश्मनों को परास्त कर देगा। यदि गीता का सन्देश अहिंसा हो तो पहला और ग्यारहवां अध्याय शेष अध्यायों से संगत नहीं है। जो हो, वे अहिंसा के सिद्धान्त का तो पोषण करते ही नहीं। मैं चाहता हूं कि आप समय निकालकर मेरी शंका का समाधान करें।"

प्रस्तुत प्रश्न सनातन है और जिसने गीता का अध्ययन किया है, उसे स्वयं ही अपना हल खोजना होगा और हालांकि मैं अपना हल सामने रख रहा हूं, फिर भी मैं जानता हूं कि अंततोगत्वा मनुष्य बुद्धि से नहीं, हृदय से संचालित होता है। हृदय उस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेता है, जिसके लिए बाद में बुद्धि तर्क निकालती है। पहले विश्वास, फिर तर्क। मनुष्य जो कुछ करता है, करना चाहता है, उसके समर्थन में प्रमाण भी ढूंढ़ निकालता है।

इसलिए गीता की मेरी व्याख्या को जो स्वीकार नहीं कर पाते, उनकी स्थिति मैं समझ सकता हूं। मेरे लिए यह बता देना काफी होगा कि मैंने अपना अर्थ किस तरह निकाला है और उस अर्थ तक पहुंचने में मुझे किन सिद्धान्तों को मानना पड़ा है। मुझे अपना अर्थ निकालने के लिए लड़ना ही चाहिए, भले ही मैं जीतूं या हारूं।

गीता से मेरा पहला परिचय सन् १८८९ में हुआ, जबकि मैं कोई २० साल का था। उस समय मुझे अहिंसा के सिद्धान्त की अधिक कल्पना नहीं थी। गुजराती के कवि शामल भट्ट की एक पंक्ति ने मुझे वह सिद्धान्त सिखाया था, जिससे प्यार के द्वारा दुश्मन को भी जीता जा सकता है और वह शिक्षा मेरे हृदय में गहरी पैंठ गई थी। लेकिन उस समय मैंने इसमें से अहिंसा के शाश्वत सिद्धान्त को नहीं निकाला था। उदाहरण के लिए मुझे सारे जीवों के प्रति दया की स्फुरणा नहीं हुई थी। मैं इसके पहले देश में ही मांसाहार कर चुका था। मैं मानता था कि सांप-जैसे विषैले जानवरों को मारना कर्त्तव्य है। आज मैं जानता हूं कि अहिंसा में विश्वास रखनेवाला ज़हरीले जानवरों को भी नहीं मार सकता। मैं उन दिनों मानता था कि हमें अंग्रेजों से लड़ने के लिए अपनेको तैयार करना होगा। मैं अक्सर गुजराती के एक कवि की प्रसिद्ध कविता गुनगुनाया करता था— "यदि अंग्रेज़ राज्य करते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या? आदि-आदि।" मेरा मांसाहार अपनेको अंग्रेजों से लड़ने-योग्य बनाने का पहला कदम था। विलायत जाने से पहले ऐसी मेरी स्थिति थी कि वहां मैं मांसाहार इत्यादि से बच गया, तो इसका कारण माताजी को दिये हुए वचनों का मरते दम तक पालन करने का मेरा निश्चय था। सत्य के प्रति मेरे प्रेम ने मुझे बहुत-से दोषों से बचाया है।

विलायत में दो अंग्रेज मित्रों के सम्पर्क से मुझे गीता पढ़नी पड़ी। "पढ़नी पड़ी" इसलिए कहता हूं, क्योंकि उसे पढ़ने की मेरी इच्छा नहीं थी। लेकिन जब इन दो मित्रों ने अपने साथ गीता पढ़ने के लिए मुझसे कहा तो मैं अपने अज्ञान पर लज्जित हुआ। अपने धर्मशास्त्रों का तनिक भी ज्ञान न होने के विचार से मुझे दुःख हुआ। जान पड़ता है कि इस भावना की जड़ में अभिमान था। मेरा संस्कृत का अध्ययन इतना नहीं था कि बिना किसी की मदद से मैं गीता के सारे श्लोकों का अर्थ समझ लूं—बेशक, वे मित्र भी संस्कृत के बारे में बिलकुल कोरे थे। उन्होंने मेरे सामने सर एडविन आर्नोल्ड का गीता का शानदार रूपान्तर रख दिया। मैंने उसे पूरा पढ़ा और मैं

उस पर मुग्ध हो गया। दूसरे अध्याय के उन्नीस श्लोक तब से अब तक मेरे हृदय-पटल पर अंकित हैं। मेरे लिए उनमें सम्पूर्ण ज्ञान है। उनमें जिन सिद्धान्तों की शिक्षा है, वे अचल हैं। उनमें बुद्धि का प्रयोग किया गया है, लेकिन उनमें अनुभूत ज्ञान है।

उसके बाद तो मैंने अनेक अनुवाद और बहुत-सी टीकाएं पढ़ीं, जीभर कर तर्क किये, लेकिन प्रथम अध्ययन की जो छाप मुझ पर पड़ी, वह कभी मिट नहीं सकी। वे श्लोक गीता को समझने की कुंजी हैं। उनसे विरोधी दीखने वाले श्लोकों को मैं त्यागने की भी सलाह दूंगा। लेकिन विनम्र विद्यार्थी को तो कुछ भी त्यागने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। वह तो केवल इतना कहेगा,—'यह मेरी बुद्धि की सीमा है कि मैं इस असंगति को दूर नहीं कर सकता। आगे चलकर शायद वैसा कर सकूं।' इस प्रकार वह अपने से और दूसरों से तर्क करेगा।

शास्त्रों का सही अर्थ करने के लिए संस्कार और अनुभव की आवश्यकता होती है। शूद्र वेद का अभ्यास नहीं कर सकता, यह वाक्य सर्वथा अर्थहीन है। शूद्र का अर्थ है आध्यात्मिक दृष्टि से असंस्कारी, अज्ञानी। वह वेदों तथा दूसरे धर्मग्रंथों का अभ्यास करके उनका अनर्थ करेगा। बीजगणित के कठिन प्रश्नों को हर कोई हल नहीं कर सकता। उन्हें समझने से पहले कुछ प्रारम्भिक शिक्षण आवश्यक होता है। पापों से लिप्त मनुष्य के मुख से "अहं ब्रह्मास्मि" महान सत्य कितना अशोभनीय होगा। वह कितने निकृष्ट ध्येय की ओर उसे ले जायगा। वह उसका कितना अनर्थ करेगा।

इसलिए जो व्यक्ति शास्त्रों का अर्थ करेगा, उसके लिए आध्यात्मिक अनुशासन आवश्यक है। उसे यम और नियम का, जो आचरण के शाश्वत मार्ग-दर्शक हैं, अभ्यास करना ही चाहिए। उनका ऊपरी पालन व्यर्थ है। शास्त्रों ने गुरु का होना आवश्यक माना है। इन दिनों गुरु दुर्लभ हैं, इसलिए संतों ने भक्ति उत्पन्न करने वाले आधुनिक ग्रंथों के अध्ययन का सुझाव दिया है। जिनमें भक्ति नहीं, उनमें श्रद्धा नहीं। वे शास्त्रों का अर्थ करने के अधिकारी नहीं। विद्वान लोग उनमें से भले ही विद्वत्तापूर्ण अर्थ निकालें,

लेकिन वह सच्चा अर्थ नहीं होगा। शास्त्रों का सच्चा अर्थ तो अनुभवी ही कर सकता है।

लेकिन अनुभवहीन व्यक्तियों के लिए भी कुछ सिद्धान्त हैं। जो अर्थ, सत्य का विरोधी है, वह ठीक नहीं हो सकता। जिसे सत्य के सत्य होने में भी शंका है, उसके लिए शास्त्र निरर्थक हैं। उसको कोई नहीं पहुंच सकता। जिसे शास्त्र में अहिंसा प्राप्त नहीं हुई उसके लिए खतरा है, लेकिन यह नहीं कि उसका उद्धार न हो। सत्य अर्थात सत् विधायक है, अहिंसा निषेधात्मक है।

सत्य तथ्य का पोषक है, अहिंसा उस तथ्य का निषेध करती है। और फिर भी अहिंसा परम धर्म है। सत्य स्वयं सिद्ध है, अहिंसा उसका सम्पूर्ण फल है। वह सत्य में समाई हुई है, लेकिन चूंकि वह सत्य की भांति व्यक्त नहीं है, इसलिए विना उसे स्वीकार किये, मनुष्य, शास्त्रों की शोध करना चाह सकता है, लेकिन सत्य की मान्यता उसे अवश्य ही अहिंसा को मान्य कराकर ही छोड़ेगी।

यंग इण्डिया
२५ नवंबर, १९२५

: ३० :

गीता का अर्थ–२

सत्य की अनुभूति के लिए तपश्चर्या आवश्यक है। सत्य का साक्षात्कार करनेवाले तपस्वी ने, अपने चारों ओर फैली हिंसा में, अहिंसा के दर्शन किये, और कहा, 'हिंसा मिथ्या है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है।' विना अहिंसा के सत्य की अनुभूति असंभव है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अहिंसा की उपलब्धि के साधन हैं। अहिंसा सत्य की प्राण है। विना उसके मनुष्य पशु है। सत्यार्थी अपनी सत्य की खोज में, इस सबको समझ लेगा और तव उसे शास्त्रों की व्याख्या करने में कोई भी कठिनाई नहीं होगी।

व्याख्या का दूसरा नियम है शब्दों की जांच न करके उसकी आत्मा को खोजना। तुलसीदास की रामायण एक उत्तम ग्रंथ है, क्योंकि उसमें स्वच्छता, दया और भक्ति की भावना है। उसमें एक चौपाई है, "ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सव ताड़न के अधिकारी!" जो व्यक्ति अपनी पत्नी को मारने में इस चौपाई की आड़ लेता है, उसकी अधोगति होगी। राम ने, न केवल अपनी पत्नी पर प्रहार ही नहीं किया, वल्कि उन्हें कभी नाराज़ भी नहीं किया। तुलसीदास ने अपनी इस चौपाई में, उस कहावत को दे दिया, जो उनके ज़माने में प्रचलित थी। उन्हें स्वप्न में भी इस वात की कल्पना नहीं थी कि इस चौपाई का आधार लेकर अपनी पत्नियों को पीटने वाले पशु भी होंगे। लेकिन यदि यह मान लें कि तुलसीदास ने, अपने समय के प्रचलित रिवाज को मानकर, अपनी पत्नी का ताड़न किया तो उससे क्या? ताड़ना फिर भी ग़लत है। पर रामायण, पति द्वारा पत्नी की ताड़ना के समर्थन के लिए नहीं लिखी गई है। वह तो राम को पूर्ण पुरुष,

सीता को आदर्श नारी और भरत को निष्ठावान भाई के रूप में चित्रित करने के लिए लिखी गई है। इसलिए उस में दूषित रिवाजों का संयोग से समर्थन मिले तो उसे त्याग देना चाहिए। तुलसीदास ने भूगोल सिखाने के लिए, अपने अनमोल ग्रंथ की रचना नहीं की है और रामायण में कहीं ग़लत भूगोल पाया जाय तो उसको तत्काल अस्वीकार कर देना चाहिए।

इन टीकाओं के प्रकाश में, गीता को देखें, गीता का मुख्य विषय है आत्मज्ञान की प्राप्ति और उसके साधन। दो सेनाओं के बीच युद्ध, उसी विषय के विवेचन का निमित्त है। आप भले ही कहें कि कवि स्वयं युद्ध अथवा हिंसा के विरुद्ध नहीं थे, और इसलिए उन्होंने युद्ध के प्रसंग को लानेमें संकोच नहीं किया। लेकिन महाभारत को पढ़ने के बाद, मुझ पर बिल्कुल दूसरी ही छाप पड़ी है। कवि व्यास ने, इस महान सौंदर्य से पूर्ण, ग्रंथ के द्वारा, युद्ध के मिथ्यात्व को प्रदर्शित किया है। वह पूछते हैं, यदि कौरवों का नाश हो जाय तो क्या? और पाण्डव जीत जायं तो क्या? विजेता कितने बचे? उनका क्या हाल हुआ? माता कुंती की अंत में क्या हालत हुई? और आज यादव कहाँ हैं?

जहां युद्ध का वर्णन और अहिंसा का समर्थन, ग्रंथ के विषय नहीं हैं, वहां इन पहलुओं पर ज़ोर देना बिलकुल ग़लत है। और यदि कुछ श्लोकों का, अहिंसा की शिक्षा के साथ मेल बैठाना मुश्किल है तो सारी गीता को हिंसा के चौखटे में मढ़ना तो उससे भी कहीं मुश्किल है।

कवि, जब किसी ग्रंथ की रचना करता है तो वह उसके सारे अर्थों की कल्पना नहीं कर पाता। काव्य की खूबी ही यह है कि वह कवि से भी आगे बढ़ जाता है। कल्पना की ऊंची-से-ऊंची उड़ान में, वह जिस सत्य तक पहुंचता है, वह प्रायः उसके जीवन में प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार बहुतेरे कवियों की जीवन-गाथा उनके काव्य से मेल नहीं खाती। गीता की मुख्य सिखावन हिंसा नहीं, बल्कि अहिंसा है, यह दूसरे अध्याय से आरंभ होने और अठारहवें अध्याय में समाप्त होनेवाले विषय से भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। दूसरे

अध्यायों में भी, इसी का अनुमोदन होता है। विना क्रोध, राग या द्वेष के, हिंसा असंभव है और गीता हमें सत्व, रजस और तमस की उस स्थिति से परे ले जाने का प्रयत्न करती है, जिसमें क्रोध, घृणा आदि का अभाव होता है। लेकिन अर्जुन, जब-जब धनुष तान कर, कान तक ले गया, उस समय की गुस्से से लाल उसकी आंखों की, मैं आज भी अपने मन में कल्पना कर सकता हूं।

अर्जुन ने अहिंसा की भावना से युद्ध में जाने से इंकार नहीं किया था। वह पहले बहुत-सी लड़ाइयां लड़ चुका था। केवल इस बार वह झूठी दया से अभिभूत हो गया। अपने ही सगे-सम्बन्धियों को मारने में उसे झिझक हुई। अर्जुन ने मारने की समस्या के विषय में कभी चर्चा नहीं की थी। उसने यह नहीं कहा कि वह किसी को नहीं मारेगा, भले ही वह उसे पापी क्यों न समझता हो। श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं, और उन्होंने देखा कि अर्जुन क्षणिक मोह के वश हो गया है। इसलिए उन्होंने उससे कहा, "तुम मार तो पहले ही चुके। तुम एकाएक अहिंसा से अपने को कायल नहीं कर सकते। जिस कार्य को तुमने पहले ही शुरू कर दिया है, उसे पूरा करो। यदि कोई यात्री एक्सप्रेस में, अर्थात् चालीस मील फी घंटे की रफ्तार से चलने वाली गाड़ी में अचानक यात्रा से ऊबकर नीचे कूद पड़ता है तो वह आत्मघात का अपराधी है। उसने प्रवास के या रेलद्वारा यात्रा के मिथ्यात्व को नहीं सीखा है। अर्जुन का भी यही हाल था। अहिंसक कृष्ण, अर्जुन को, और कोई सलाह नहीं दे सकते थे। लेकिन यह कहना कि गीता हिंसा की शिक्षा देती है या युद्ध का समर्थन करती है, क्योंकि एक विशेष अवसर पर मारने की सलाह दी गई थी उतना ही गलत है, जितना यह कहना कि हिंसा जीवन का नियम है, क्योंकि दैनिक जीवन में, वह किसी-न-किसी अंश में अनिवार्य है। जो गीता के मर्म का अध्ययन करता है, उसे गीता अहिंसा की युक्ति बताती है—वह युक्ति, जिससे भौतिक शरीर में आत्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

और धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर और अर्जुन कौन हैं? क्या ये सब ऐति-

हासिक पुरुष थे ? और क्या गीता उनका इसी रूप में उल्लेख करती है ? क्या यह सच है कि अर्जुन लड़ते-लड़ते अचानक रुक जाता है और कृष्ण से सवाल करता है और कृष्ण सारी गीता उसके सामने दोहरा देते हैं ? और गीता कौन-सी ? क्या यह वह गीता है, जिसे यह कहकर अर्जुन भूल जाता है कि उसका मोह नष्ट हो गया है और कृष्ण से अनुरोध करता है कि वे उसे फिर से सुनावें, लेकिन जिसे वे सुना नहीं पाते और इसलिए वे अनुगीता के रूप में उपस्थित करते हैं ?

मैं दुर्योधन और उनके दल को मनुष्य की आसुरी वृत्तियाँ मानता हूं और अर्जुन तथा उसके दल को दैवी वृत्ति मानता हूं। रणक्षेत्र हमारा अपना शरीर है। दोनों दलों में सनातन द्वन्द्व चलता है और कवि-द्रष्टा ने उसका तादृश वर्णन किया है। कृष्ण अन्तर्यामी हैं। वह शुद्ध हृदय में सदा मंद स्वर से बोलते रहते हैं। घड़ी की भांति, हृदय, शुद्धि रूपी चावी की अपेक्षा रखता है, चावी नहीं मिली तो अन्तर में निवास करनेवाला बोलना बंद कर देता है।

कहने का मतलब यह नहीं कि स्थूल युद्ध के लिए अवकाश नहीं हैं। जो अहिंसा को जानते नहीं हैं उन्हें गीता निराश होना नहीं सिखाती। जिसे भय है, जो अपनी जान बचाता है, जो विषयों के आगे झुकता है, वह कर पाये या नहीं, पर स्थूल युद्ध करेगा ही, लेकिन वह उसका धर्म नहीं है। धर्म तो एक, केवल एक है। अहिंसा के मानी हैं मोक्ष, और मोक्ष, सत्य से साक्षात्कार है। इसमें कायरता को स्थान नहीं है। इस विचित्र संसार में हिंसा तो सदा होती ही रहेगी। गीता उससे बचने का मार्ग दिखाती है। लेकिन वह यह भी दिखाती है कि कायर बनकर या हताश होकर हिंसा से बचा नहीं जा सकता। पीठ दिखाने से कहीं अच्छा रणक्षेत्र में मारना और मरना है।

क्या यह निश्चित है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर, कर्ता, भर्त्ता और संहर्त्ता है और वह ऐसा ही होना चाहिए ? जो रचता है उसे निस्संदेह संहार करने का भी अधिकार है। और फिर भी वह संहार नहीं करता; क्योंकि

वह उत्पन्न नहीं करता। उसका नियम यह है कि जो पैदा हुआ है, वह अवश्य मरेगा और इसी में उसकी दया है। उसके नियम अटल हैं। यदि वह उन्हें स्वेच्छाचारी और स्वच्छन्द होकर बदल डाले तो हमारा कहां ठिकाना लगेगा?

यंग इंडिया
२५ नवम्बर, १९२५

: ३१ :

सभ्यता का गुण

सभ्यता, सदाचरण, विनम्रता इन गुणों पर आज इतना कम ज़ोर दिया जाता है कि हमारे चरित्र-गठन में उनका कोई स्थान ही दिखाई नहीं देता। यदि कोई मनुष्य स्थूल ब्रह्मचर्य का पालन करता है, तो वह बाजीराव की भांति आचरण करता है, यानी सब लोगों की भर्त्सना करता है और उन्हें नीचा दिखाता है और हम उसकी उद्धतता को दुधारू गाय की लात के समान सह लेते हैं। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य वाणी से सच बोलता है, तो हम उसे कड़वी बात कहने की छूट दे देते हैं और एक खादी पहननेवाला लाल-पीला होकर खादी न पहननेवाले पर धावा बोल सकता है। इसी तरह सविनय अवज्ञा करनेवाला व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है, मानो उसे दूसरों के साथ अविनय करने की छूट हो। असभ्यों की सेना का नायक, सच्चा ब्रह्मचारी या सत्यवादी या खादीधारी अथवा सविनय प्रतिरोधी हर्गिज़ नहीं है। ये चारों अपनी ही प्रतिज्ञाओं से उतने ही दूर हैं, जितने उत्तर से दक्षिण। कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति में सदाचरण का अभाव होता है, वह विवेकशील नहीं होता और जहां विवेक का अभाव होता है, वहां कुछ भी नहीं होता। विश्वामित्र की तपश्चर्या तबतक अपूर्ण मानी गई जबतक कि उन्होंने विनय नहीं सीखी।

विनय और नम्रता अहिंसा की भावना की निशानी हैं, जबकि अविनय और उद्धतता हिंसा की भावना की सूचक हैं। इसलिए असहयोगी को कभी अविनयी नहीं होना चाहिए। फिर भी असहयोगियों पर लगातार आरोप लगाया जाता है कि वे असभ्य और उद्धत होते हैं। इस आरोप में

बहुत-कुछ सचाई है। हम मानने लगते हैं कि असहयोगी बनकर हमने मानो कोई बहुत बड़ा काम कर डाला है। यह ऐसे ही है जैसे कोई व्यक्ति अपना कर्जा उतारकर मान बैठे कि वह बदले का अधिकारी है।

ऐसी असभ्यता से, हमारी लड़ाई में, विजय मिलने में देर होती है, क्योंकि जिस प्रकार विनय क्रोध और घृणा को रोकती है, उसी प्रकार अविनय शत्रुता को बढ़ावा देती है। यदि असहयोगी सरकार के साथ सहयोग करनेवालों के प्रति विनम्रता का व्यवहार करते, उन्हें गालियां न देते, उनके प्रति आदर दिखाते, तो दोनों पक्षों के बीच मौजूदा कटुता न होती और बंबई में जो दुखद घटनाएं देखने में आईं, वे देखने में न आतीं। जिस विद्यार्थी ने अपना सरकारी स्कूल छोड़ दिया है, उसे उस विद्यार्थी को नहीं सताना चाहिए, न उसे गालियां देनी चाहिए, जिसने अपना स्कूल नहीं छोड़ा है। इसके विपरीत उसे प्रेम के द्वारा जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। वह पहले जिस प्रकार उसकी सेवा करता था, वैसे ही करते रहना चाहिए। जिस वकील ने वकालत छोड़ दी है, उसे उस व्यक्ति पर नाक-भौं नहीं सिकोड़नी चाहिए, जिसने वकालत नहीं छोड़ी है, बल्कि उससे पहले के समान ही मधुर सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। जिसने सरकारी नौकरी छोड़ दी है, उसे नौकरी न छोड़नेवाले को नीचा नहीं दिखाना चाहिए।

यदि हमने आरंभ से ही अपना कार्य इस भावना से किया होता, तो संभव है कि हम अबतक अपनी मंज़िल पर पहुंच गये होते और देश ने आज जितनी प्रगति की है, उससे कहीं अधिक की होती। तब नरम दल के लोग हमसे अलग नहीं रहे होते।

मैं विश्वास करता हूं कि विनम्रता का अर्थ कोई भी खुशामद नहीं लगायेगा। इसका अभिप्राय यह भी नहीं कि अपने धर्म के प्रति हम अपने आदर को छिपायें। विनम्र होने का मतलब है दूसरों के प्रति आदर व्यक्त करना, साथ ही अपने धर्म पर आरूढ़ रहना। चूंकि मैं अपने माथे पर कुंकुम का टीका लगाता हूं, इसलिए मैं उस व्यक्ति का उपहास न करूं, जो टीका नहीं लगाता। यदि मैं प्रार्थना करते समय अपना मुंह पूर्व की ओर रखता

हूं तो मुझे अपने मुसलमान भाई के प्रति घृणा नहीं रखनी चाहिए, जो पश्चिम की ओर मुंह करके अपनी नमाज़ पढ़ता है। मैं संस्कृत के शब्दों का उच्चारण ठीक-ठीक कर लेने की क्षमता रखता हूं, तो उससे मुझे अरबी का उच्चारण करनेवाले की निन्दा नहीं करनी चाहिए। खादी का प्रेमी स्वयं खादी की टोपी पहनकर सोला हैट पहननेवाले के प्रति उदार रह सकता है और उसे प्यार कर सकता है। यदि कोई मनुष्य पूरी खादी की पोशाक पहनकर विदेशी कपड़े पहननेवाले को गाली देता है तो वह विदेशी कपड़ों का सबसे प्रभावशाली प्रचारक सिद्ध होगा। बंबई की घटनाओं से खादी अधिक लोकप्रिय नहीं बनी। इसके विपरीत खादी में से कुछ लोगों को अब दुर्गन्ध आती है।

यदि हम खादी-प्रेमी यह चाहते हैं कि सारा भारत खादी पहनने लगे तो हमें धीरज से उन लोगों को समझाना चाहिए, जो विदेशी वस्त्र धारण करते हैं। हम विदेशी कपड़ों की कितनी भी निन्दा क्यों न करें, उन्हें पहननेवालों के प्रति प्रेम के अलावा कुछ भी नहीं करना चाहिए। प्लेग बड़ा भयंकर रोग है, लेकिन उससे पीड़ित व्यक्ति से हम भागेंगे तो उसकी छूत हमें भी लग जाने की संभावना है। हम रोग के उन्मूलन की इच्छा करें, न कि चाहें कि रोगी मर जाय। यदि हम विदेशी कपड़ों के पहनने को एक प्रकार का रोग मानते हैं, तो हमें उस व्यक्ति की सेवा करनी चाहिए, जो उस रोग से पीड़ित है। क्या विदेशी कपड़े पहननेवाला हमें रोग का शिकार नहीं मान सकता? यदि वह ऐसा करता है तो करे। ऐसा होने पर भी यदि हम एक-दूसरे की सेवा करते रहेंगे, तो किसी-न-किसी दिन हमें पता चल जायगा कि हममें से कौन भूल कर रहा था। यदि हम इस भांति काम नहीं करेंगे, तो हमें धर्म और अधर्म का भेद कभी मालूम नहीं होगा।

जिस प्रकार हमारे लिए आवश्यक है कि हम सरकार के साथ सहयोग करनेवालों के प्रति विनयशील रहें, उसी प्रकार हममें से जेल जानेवालों को जेल में विनय-युक्त व्यवहार करना होगा। जेल के नियमों का पालन करना और फिर भी अपने स्वाभिमान की रक्षा करना कठिन है। जेल के

कुछ नियम, स्वभावतः, अपमानजनक होते हैं। उदाहरण के लिए जेल की कोटरी में वंद करा दिये जाने के अलावा हमारे पास कोई चारा ही नहीं है। इस तरह हमें सारे कैदियों पर लागू होनेवाले नियमों का अवश्य पालन करना चाहिए। साथ ही, हमें उस कदम का दृढ़ता से विरोध करना चाहिए, जो महज़ हमें अपमानित करने की खातिर हो। यदि हम एक वार विनयपूर्वक व्यवहार करना सीख लें तो विशेष परिस्थिति में हमें कैसे व्यवहार करना चाहिए, यह हमें अपने-आप मालूम हो जायगा।

जहां अहं है, वहां अविनय और उद्धतता है। जहां अहं नहीं है, वहां हमें सभ्यता के साथ स्वाभिमान की भावना मिलेगी। अहंभाव रखने-वाले को अपने शरीर का वड़ा घमंड होता है। स्वाभिमानी व्यक्ति आत्मा को पहचानता है, उसीका सदा ध्यान रखता है और उसकी उपलब्धि के लिए अपने शरीर का वलिदान करने को तैयार रहता है। जो अपने स्वा-भिमान को मूल्यवान मानता है, वह दूसरों के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करता है, क्योंकि वह दूसरे के स्वाभिमान को उतना ही मूल्यवान समझता है, जितना अपनेको। वह सवमें अपनेको और अपने में सवको देखता है और अपने को दूसरे के स्थान पर रखता है। अहंकारी अपनेको दूसरों से अलग रखता है और वाकी की दुनिया से अपनेको ऊंचा मानकर दूसरों का काज़ी वनता है और उसके ही फलस्वरूप दुनिया को अपने हल्केपन को नापने का अवसर देता है।

अहिंसक असहयोगी को सभ्यता को एक अलग गुण मानकर उसके विकास का प्रयत्न करना चाहिए। इसके महत्व में ही व्यक्ति अथवा राष्ट्र की संस्कृति का मानदण्ड है। असहयोगी को साफ-साफ अनुभव कर लेना चाहिए कि असभ्यता पशुता का दूसरा नाम है और उसका पूर्णतया त्याग करना चाहिए।

नवजीवन (गुजराती)
१८ दिसम्बर, १९२१

: ३२ :

कष्ट-सहन का नियम

विना यातना की आग में तपे कभी किसी राष्ट्र का उत्थान नहीं हुआ। अपने वच्चे की रक्षा के लिए माता कष्ट सहती है। गेहूं के अंकुर के उगने के लिए वीज को सड़ना पड़ता है। मृत्यु में से ही जीवन की उत्पत्ति होती है। क्या भारत कष्टसहन द्वारा शुद्धि के इस शाश्वत नियम का पालन किये विना गुलामी से अपनी उद्धार कर सकेगा ?

यदि मेरे सलाहकारों की धारणा सही है, तो भारत अवश्य ही विना कष्टसहन के अपनी इच्छा पूरी कर लेगा। उन लोगों की मुख्य चिन्ता यही है कि अप्रैल १९१९ की घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो। वे असहयोग से डरते हैं, क्योंकि उसमें वहुत-से लोगों को कष्ट सहन करना होगा। यदि हैम्पडन ने इस प्रकार सोचा होता तो जहाजी वेड़ा-कर देने से उसने इंकार न किया होता, न वाट टेलर ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया होता। इंग्लैण्ड और फ्रांस के इतिहास ऐसे दृष्टान्तों से भरे पड़े हैं, जवकि भारी कष्टों की परवा न करके लोगों ने जो ठीक समझा, वह करते रहे। उन काम करनेवालों ने क्षण-भर के लिए भी यह नहीं सोचा कि उनके कारण कहीं निर्दोष व्यक्तियों को अनचाहे कष्ट-सहन न करने पड़ें। हम अपना इतिहास दूसरी प्रकार से लिखे जाने की आशा क्यों करें? यह हमारे लिए संभव है कि हम अपने पूर्ववर्त्तियों की त्रुटियों से शिक्षा-ग्रहण करके और अधिक अच्छा कार्य करें, लेकिन कष्ट सहन के नियम को, जो हमारे अस्तित्व का अपरिहार्य अंग है, छोड़ देना असंभव है। अधिक अच्छा कार्य करने का रास्ता यह है कि यदि हम अपनी ओर से हिंसा को वचा सकें तो बचावें और इस प्रकार प्रगति की

रफ्तार को तेज करें तथ कष्टसहन के तरीकों में अधिक शुद्धता लावें। अगर हम चाहें तो ऐसा कर सकते हैं कि अन्याय करनेवाले को अपनी इच्छा के आगे झुकाने के लिए अधीर होकर पशुवल का प्रयोग न करें, जैसा कि आज सिनफेन दल के लोग कर रहे हैं, न हम अपने पड़ोसियों पर इस वात का दबाव डालें कि वे हमारे तरीके पर चलें, जैसा कि हममें से कुछने पिछले साल हड़ताल कराने के लिए किया था। कष्ट-सहन करनेवाले ने कितना कष्ट सहा, इससे प्रगति को मापा जायगा। कष्टसहन जितना शुद्ध होगा, उतनी ही अधिक प्रगति होगी। इसीलिए ईसा का बलिदान दुख से भरे संसार को कष्ट-मुक्त करने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ। उन्होंने आगे बढ़ते हुए इस बात का विचार नहीं किया कि उनके पड़ोसियों को स्वेच्छा से या अन्यथा कितनी यातना सहन करनी पड़ रही है। इसी प्रकार हरिश्चन्द्र ने जो कष्ट सहे वे सत्य के साम्राज्य को पुनः स्थापित करने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुए। उन्हें अवश्य ही यह ज्ञात रहा होगा कि उनके सिंहासन छोड़ने से उनकी प्रजा को अनचाहे कष्ट उठाने होंगे। उन्होंने इसकी परवा नहीं की, क्योंकि वह सत्य पर आचरण करने के अतिरिक्त और कुछ कर नहीं सकते थे।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि मुझे जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड का उतना दुख नहीं है, जितना कि हमारे द्वारा की गई अंग्रेज़ों की हत्या और धन-सम्पत्ति की क्षति से है। अमृतसर-काण्ड की भयंकरता ने लोगों का ध्यान लाहौर की अधिक पर धीमी भयंकरता की ओर से हटा दिया, जहां लोगों को धीरे-धीरे पुंसत्वहीन बनाने की प्रयत्न किया गया था। लेकिन अपना उत्थान करने से पहले हमें बहुत बार कष्टसहन की प्रक्रियाओं से गुजरना होगा, तबतक कि हम स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहन करना और उसी में सुख का अनुभव करना न सीख लें। मेरा पक्का विश्वास है कि लाहौर-वालों का जो क्रूरतापूर्ण अपमान किया गया, उसके वे पात्र नहीं थे। उन्होंने-कभी किसी अंग्रेज को चोट नहीं पहुंचाई थी, न उन्होंने कभी किसी सम्पत्ति को बरबाद किया था, लेकिन एक स्वेच्छाचारी शासक उस जनता की भावना को कुचलने के लिए दृढ़ संकल्प था, जो उसके कष्टदायक जुए को

उतार फेंकने के लिए प्रयत्नशील थी, और यदि मुझसे यह कहा जाय कि इन सबका कारण मेरी सत्याग्रह की शिक्षा थी तो मेरा उत्तर है कि जबतक मुझमें सांस बाकी है, मैं सत्याग्रह का और ज्यादा जोर से प्रचार करूंगा, और लोगों को बताऊंगा कि अगली बार ओडायर की मदान्धता के जवाब में आप अपनी दुकानें माल की जबरन बिक्री के डर से न खोलें, बल्कि अत्याचारी को मनमानी कर लेने दें और अपना सारा माल बिक जाने दें, केवल अपनी अजेय आत्मा को न बिकने दें। प्राचीन काल के ऋषि अपने शरीर को तपा डालते थे, ताकि उनकी आत्मा मुक्त हो सके, उनकी तपी हुई काया में इतनी क्षमता उत्पन्न हो जाय कि उनसे अपनी बात मनवाने के लिए अत्याचारी जो भी अत्याचार करें, उसका उनपर कोई असर न हो। और यदि भारत अपने पुरातन ज्ञान को फिर से प्राप्त करना चाहता है और यूरोप की बुराइयों से बचना चाहता है, यदि भारत इस पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना करना चाहता है और शैतान के राज्य का, जिसने यूरोप को आच्छादित कर रक्खा है, उन्मूलन करना चाहता है तो मैं उसके बेटे-बेटियों से कहूंगा कि वे सुन्दर शब्दों के या उन भयंकर बारीकियों के धोखे में न आवें, जिन्होंने हमें चारों ओर से घेर रक्खा है। उन्हें जिन कष्टों से गुजरना पड़ सकता है, उनके ख्याल से डिगें नहीं, बल्कि देखें कि आज यूरोप में क्या हो रहा है, और उससे समझें कि जैसे यूरोप को कष्टों से गुजरना पड़ा है, वैसे ही उन्हें भी गुजरना है, लेकिन दूसरों को कष्ट देने की प्रक्रिया से उन्हें बचना है। जर्मनी यूरोप पर अपना प्रभुत्व चाहता था और मित्र-राष्ट्र जर्मनी को कुचलकर वैसा करना चाहते थे। जर्मनी का पतन हुआ, पर यूरोप का उससे भला नहीं हुआ। मित्र-राष्ट्रों ने अपनेको वैसा ही धोखेबाज, क्रूर, लालची और स्वार्थी सिद्ध किया, जैसा जर्मनी था या होता। जर्मनी पाखण्डी छल-कपट को, जो मित्र-राष्ट्रों के बहुत-से क्रिया-कलापों में पाया जाता था, बचा सकता था।

जिस भूल के लिए मैंने पिछले साल दुःख प्रकट किया था, वह जनता को दिये गए कष्टों से नहीं, बल्कि जनता द्वारा की गई भूलों और सत्याग्रह

के सन्देश को ठीक से न समझ पानेके कारण उसने जो हिंसा की उसके कारण था। तब कष्टसहन के नियम की दृष्टि से असहयोग का क्या अर्थ है। जो सरकार हम लोगों की इच्छा के विरुद्ध हमपर शासन कर रही है, उसके साथ सहयोग न करने के कारण हमें जो हानियां और असुविधाएं उठानी पड़ें, उन्हें हम स्वेच्छापूर्वक उठावें। थोरो ने लिखा है कि अन्यायी सरकार के शासन में सत्ताधारी और धनी होना पाप है, निर्धन होना गुण है। यह संभव है कि संक्रान्ति काल में हम भूलें करें और हमें ऐसी यातनाएं सहनी पड़ें, जिन्हें हम रोक सकते थे। राष्ट्र को पुंसत्वहीन होने देने की अपेक्षा यातनाओं को भोगना कहीं अच्छा है।

अन्याय करनेवाले को अपने अन्याय का भान हो और वह उसका निराकरण करे तबतक हमें प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। इस डर से कि हमारे इस आचरणसे हमें या दूसरों को यातना भोगनी होगी, हमें उस अन्याय में भागीदार नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत अन्याय करनेवाले के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग न करके अन्याय का मुकाबला करना चाहिए।

यदि कोई पिता अन्याय करता है तो उसके बच्चों का कर्तव्य है कि वे पिता का साथ छोड़ दें। यदि किसी पाठशाला का प्रधान अध्यापक अपनी संस्था को अनैतिक आधार पर चलाता है तो छात्रों को पाठशाला को छोड़ देना चाहिए। यदि किसी निगम का अध्यक्ष भ्रष्टाचारी है तो उसके सदस्यों को उस संस्था से अलग होकर भ्रष्टाचार से अपनेको बचा लेना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई सरकार गंभीर अन्याय करती है, तो प्रजा को चाहिए कि शासक को अपनी दुष्टता से विमुख करने के लिए पूरी तरह या आंशिक रूप में जितना आवश्यक हो, असहयोग करे। मेरी कल्पना के दोनों ही तरह के असहयोग में कष्टसहन एक आवश्यक तत्व है, चाहे यह कष्ट मानसिक हो या शारीरिक। इस प्रकार के कष्ट-सहन के बिना स्वराज्य असंभव है।

यंग इण्डिया

१६ जून १९२०

: ३३ :

राष्ट्र-भाषा

मुझे एक आदरणीय मित्र का एक बड़ा ही रोचक पत्र मिला है। यह पत्र हाल ही में नागपुर में जमा हुए उन प्रतिनिधियों के सामने पढ़ा गया था, जिन्होंने अखिल भारतीय साहित्य परिषद का श्रीगणेश किया था। इस प्रकार का एक पत्र एक दूसरे मुसलमान मित्र ने भेजा है, जिसके साथ इसी विषय पर पिछले २७ अप्रैल के 'बाम्बे क्रानीकल' का अग्रलेख भी नत्थी किया है। ये पत्र और 'क्रानीकल' का लेख सामान्यतया विभिन्न प्रान्तों के लिए एक समान भाषा के संबंध में मेरे विचारों को प्रकट करते हैं। फिर भी मुझे भय है कि इसमें शायद कुछ कमियां रह गई हैं। यदि उन्हें कमियां कहा जा सके तो वे केवल इस विचार से की गई हैं, जिससे मेरे मित्रों के सामने जो लक्ष्य है, उसकी ही सीमाएं बांधी जा सकें।

आरंभ में ही मैं उस सन्देह पर विचार करना छोड़े देता हूं, जो कुछ मुसलमानों में पैदा हो गया है। सारा ही वातावरण सन्देह से भरा है। किसी भी व्यक्ति के कथन या कार्य सन्देह से परे नहीं हैं। जो लोग दिल से पूरी साम्प्रदायिक एकता चाहते हैं और जिन्होंने स्वयं सन्देह का अवसर नहीं दिया, उनके लिए, मेरी राय में, सबसे अच्छा रास्ता यह होगा कि वे इधर या उधर बहकानेवाले क्षणिक जोश से बचे रहकर ईमानदारी से काम करें। परिषद जैसे कामों में तो विशेष रूप से आवेश का अवसर होता ही नहीं। परिषद का उद्देश्य तो भारत की सारी भाषाओं में जो सर्वोत्तम है, उस सबको एकत्र करना और उसे अधिक-से-अधिक देशवासियों को उस भाषा के माध्यम से सुलभ करना है, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा लोग समझते हैं। इसमें

सन्देह नहीं कि अनेक भाषाओं में से उर्दू एक है और उसमें ऐसी निधियां भरी पड़ी हैं, जो सारे भारत की आम सम्पत्ति होनी चाहिए। जो भारतीय मुसलमानों के मन को या इस्लाम के विषय में भारतीय दृष्टि से की गई व्याख्या के वारे में सवकुछ जानना चाहता है, वह उर्दू की उपेक्षा नहीं कर सकता और यदि हाल ही में स्थापित यह परिषद आधुनिक उर्दू साहित्य की निधियों को वंद कमरे में से निकाल कर सारे भारत के लिए सुलभ नहीं वना सकती तो वह अपने कर्तव्य और उद्देश्य में विफल होगी।

पत्र-लेखक ने एक भूल की है, जिसका दूर करना आवश्यक है। उनके सामने टण्डनजी के उस भाषण का पूरा पाठ नहीं था, जो उन्होंने बनारस में नहीं, जैसाकि मित्र सोचते थे, वल्कि इलाहावाद में दिया था, अन्यथा वह यह समझने की गंभीर भूल न करते कि टण्डनजी ने वाईस करोड़ हिन्दी वोलनेवालों की जो वात कही थी, उनके मन में केवल वे व्यक्ति थे, जो आज-कल की वनावटी हिन्दी लिखते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका मतलव विन्ध्य के उत्तर में रहनेवाले उन लोगों से था, जिनमें सात करोड़ मुसलमान भी शामिल हैं और जो कमोवेश उस भाषा को वोलते या समझते हैं, जो व्रजभाषा से निकली है और जिसके व्याकरण का ढांचा उसीसे लिया गया है। उसका हिन्दी नाम भी असली नाम नहीं है। यह नाम मुसलमान लेखकों द्वारा उस भाषा के लिए दिया गया था, जो उन्होंने उत्तर के लोगों के लिए लिखी थी और जो निस्सन्देह उस भाषा की तरह थी, जैसी उनके हिन्दू भाई लिखते थे। वाद में उसकी शाखाएं हो गईं और देवनागरी में लिखी जानेवाली हिन्दी उत्तर के हिन्दुओं की भाषा हो गई और फारसी या अरवी में लिखी जानेवाली उर्दू उत्तर के मुसलमानों की। अव भी यह कहना सही नहीं है कि सारे भारत के मुसलमानों की आम जवान उर्दू है। मैं जानता हूं कि अली-भाइयों को और मुझे मलवार के मोपलों को अपनी उर्दू में अपनी वात समझाने में कठिनाई मालूम हुई। हमें साथ में एक मल-याली दुभाषिया रखना पड़ा। पूर्वी वंगाल के वहुत-से मुसलमानों के वीच जाने पर भी हमें वैसी ही कठिनाई का सामना करना पड़ा था। इसलिए

टण्डनजी और राजेन्द्रबाबू के हिन्दी शब्द का प्रयोग करने का मतलब ठीक वही था, जो मेरे मित्र का है। हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग करने से उनकी स्थिति अधिक स्पष्ट नहीं होती।

लेकिन पत्र-लेखक की उत्तर के उन लेखकों के बारे में शिकायत बिल्कुल सही है, जो ऐसी हिन्दी लिखते हैं, जिसे उत्तर के भी बहुत थोड़े लोग समझ पाते हैं। जानसन के भाषण की तरह यह प्रयास भी अवश्य असफल होने वाला है।

पत्र-लेखक कह सकते हैं कि तब हिन्दी या हिन्दुस्तानी का हठ छोड़कर सीधे-सादे हिन्दुस्तानी क्यों नहीं कहते ? मेरे पास इसके लिए सीधी-सादी एक दलील है और वह यह कि मुझ जैसे नये व्यक्ति के लिए पच्चीस वर्ष पुरानी संस्था को अपना नाम बदलने को कहना धृष्टता होगी, जबकि इसकी आवश्यकता भी स्पष्ट रूप से सिद्ध नहीं होती। नई परिषद पुरानी संस्था की ही उपज है और वह उत्तर के मुसलमानों और हिन्दुओं की, जो एक ही भाषा बोलते हैं, जरूरत पूरी करना चाहती है। इसका कोई महत्व नहीं कि उसे हिन्दी कहकर पुकारा जाता है या हिन्दुस्तानी। मेरे लिए दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। लेकिन मैं उन व्यक्तियों से झगड़ा नहीं करूंगा, जो हिन्दी शब्द का प्रयोग करेंगे, बशर्ते कि उनका आशय उसी भाषा से हो, जिससे कि मेरा है।

पत्र-लेखक द्वारा 'अखिल भारतीय' शब्दों के प्रयोग पर की गई आपत्ति मेरी समझ में नहीं आती। इन शब्दों को सारे भारत के हिन्दू निश्चित रूप से समझते हैं और मैं यह कहने का साहस करूंगा कि उत्तर के अधिकांश मुसलमान भी समझ सकेंगे। हमारे युग में भारतीय संस्कृति को सांचे में ढाला जा रहा है। हममें से बहुतेरे उन सारी संस्कृतियों को मिला देने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो इस समय एक-दूसरे से टकराती जान पड़ती हैं। अलग रहने का प्रयास करनेवाली कोई भी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती। आज भारत में शुद्ध आर्य संस्कृति जैसी कोई चीज नहीं है। आर्य लोग भारत के आदिम निवासी थे या अनचाहे आक्रमणकारी थे, इसमें मुझे अधिक दिलचस्पी

नहीं है। जिसमें मेरी दिलचस्पी है वह बात यह है कि हमारे पुरातन पूर्वज पूरी आजादी से एक-दूसरे से मिलते थे और वर्तमान पीढ़ी के हम उसी मिलन के फल हैं। यह तो भविष्य ही बता सकेगा कि हम अपने देश और उस छोटी-सी दुनिया की कोई भलाई कर रहे हैं, जो हमारा पोषण करती है, या उनपर बोझ बने हुए हैं। जहांतक मेरा सम्बन्ध है, नई परिषद और हिन्दी साहित्य सम्मेलन भारत की सारी भाषाओं में जो सर्वोत्तम है, उसे मिलाने का काम करके सबका समान हित करना चाहते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते तो वे समाप्त हो जायंगे, लेकिन मिलाने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम उस चीज को बिल्कुल निकाल दें, जिसमें से एक-दूसरे की अपेक्षा आर्यपन, अरबीपन, अंग्रेजीपन या और किसी पन की अधिक गंध आती है।

यदि पुराने जमाने के मुसलमानों ने बीते समय में हिन्दी का अध्ययन किया और उसे समृद्ध बनाया तो वर्तमान पीढ़ी के मुसलमानों को क्यों उससे किनारा करना चाहिए ? बेशक, आज की मौजूदा हिन्दी की अपेक्षा पुराने जमाने की हिन्दी अधिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक भावनावाली थी और क्या किसीको उस भाषा के प्रयोग से बचना चाहिए, क्योंकि उसमें धार्मिक और सांस्कृतिक भावना अधिक है। क्या मुझे अरबी और फारसी से उनकी धार्मिक तथा सांस्कृतिक भावना के कारण कतराना चाहिए ? यदि मैं अरबी, फारसीसे प्रभावित नहीं होना चाहता या मैं उनके प्रति घृणा रखता हूं तो भले ही प्रभावित न होऊं। निस्सन्देह यदि हमें सगे भाइयों की तरह, जो कि हम हैं, साथ रहना है तो हमें एक-दूसरे की संस्कृति से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए और हिन्दी में संस्कृत के शब्दों के प्रयोग पर इतना झगड़ा क्यों करें कि उस भाषा के विरुद्ध विद्रोह की स्थिति आ जाय ? सरल चालू शब्दों की जगह संस्कृत शब्द रखने या तद्भव शब्दों को संस्कृत तत्सम शब्दों के रूप देने की अस्वाभाविक प्रक्रिया निस्सन्देह निन्दनीय है और उससे भाषा का माधुर्य ही चला जाता है। लेकिन राष्ट्र के विकास के साथ-साथ केवल संस्कृत जाननेवाले हिन्दू एक हद तक संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करते

हैं तो वह अनिवार्य है। इसी प्रकार केवल अरबी जाननेवाले मुसलमानों का अरबी के शब्द ही इस्तेमाल करना अनिवार्य है, हालांकि दोनों एक ही भाषा लिखते हैं और उनकी कोई विशेष रुचि या अरुचि नहीं है। शिक्षित हिन्दुओं और मुसलमानों को भाषा के दोनों रूपों से परिचित होना पड़ेगा।

जिस प्रकार कार्नवाल, लंकाशायर और मिडिलसैक्स एक ही भाषा के विभिन्न नाम हैं, उसी प्रकार हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू एक ही भाषा के अलग-अलग नाम हैं। आज एक नई भाषा बनाने का नहीं, बल्कि जिस भाषा को तीन नामों से जाना जाता है, उसे अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनाने का हमारा उद्देश्य है। मेरा विश्वास है कि श्री कन्हैयालाल मुंशी ने 'हंस' में इस्तेमाल की जानेवाली भाषा का ठीक ही बचाव किया। यदि तमिल या तेलुगु की किसी चीज का हिन्दी या हिन्दुस्तानी में अनुवाद करें तो संस्कृत के शब्दों का प्रयोग प्रायः अनिवार्य है। इसी प्रकार अरबी शब्दों का इस्तेमाल अनिवार्य है, यदि उसकी किसी चीज का अनुवाद हिन्दी या हिन्दुस्तानी में करें। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' के हिन्दी या हिन्दुस्तानी अनुवाद में यदि संस्कृत शब्दों को, जिनकी कि बंगला भाषा में भरमार है, जान-बूझकर बचाया जाय तो उसमें जो लालित्य है, वह बहुत कम हो जायगा। मौलवी अब्दुल हक या आक़िल साहब जैसे साहित्यिक मुसलमानों को सामान्य भाषा को केवल हिन्दुओं द्वारा बोली जाने वाली भाषा का रूप लेने से बचाने में अपना योगदान देना है। यदि मैं उनके दिमाग से उर्दू रूप को खालिस मुसलमानों की जबान मानने का खयाल हटा सकूं तो मैं ऐसा करूंगा, जिस प्रकार मैं साहित्यिक हिन्दुओं के दिमाग से इस विचार को दूर कराऊंगा कि हिन्दी केवल हिन्दुओं की भाषा है। यदि दोनों में से कोई भी इस विचार को नहीं छोड़ता तो उत्तर के हिन्दू और मुसलमानों की कोई आम जबान नहीं हो सकती, उसे भले ही किसी नाम से पुकारें। इसलिए यदि पूरी सच्चाई के साथ आपका मतलब एक ही भाषा से है तो उसे जो भी चाहें, नाम दे सकते हैं।

अब प्रश्न लिपि का रहता है। मुसलमान देवनागरी में लिखें, इस बात पर इस समय जोर देने की कल्पना नहीं की जा सकती। हिन्दुओं का विशाल जनसमूह अरबी लिपि को अपना ले, यह और भी कम विचारणीय है। इसलिए मैंने हिन्दी या हिन्दुस्तानी की यह व्याख्या की है कि जिस भाषा को उत्तर के हिन्दू और मुसलमान आम तौर पर बोलते हैं, वह भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी है, चाहे वह देवनागरी या उर्दू में लिखी जाय। मैं अपनी इस व्याख्या पर कायम हूं, यद्यपि इसका विरोध किया गया है। लेकिन देवनागरी का निस्सन्देह एक आन्दोलन चल रहा है, जिसका साथ मैं पूरे दिल से दे रहा हूं और वह यह है कि विभिन्न प्रान्तों में, बोली जानेवाली विशेषकर जिन प्रान्तों में संस्कृत शब्दों की अधिकता है, भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि को सामान्य लिपि मान लिया जाय। जो हो, भारत की समस्त भाषाओं के मूल्यवान साहित्य को देवनागरी लिपि में लिखने का प्रयत्न किया जा रहा है।

हरिजन
९ मई और १८ मई, १९३६

: ५४ :

उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में मैंने कुछ समय पूर्व डरते-डरते संक्षेप में जो विचार व्यक्त किये थे, उनकी माननीय श्री श्रीनिवास शास्त्री ने आलोचना की है, जिसका कि उन्हें पूरा अधिकार है। मनुष्य, देशभक्त तथा विद्वान के रूप में उनके प्रति मेरे हृदय में वड़ा मान है। इसलिए जब मैं अपनेको उनसे असहमत पाता हूं तो वह मेरे लिए हमेशा दुःख की बात होती है, और फिर भी कर्त्तव्य मुझे बाध्य कर रहा है कि उच्च शिक्षाके विषयमें अपने विचारों को पहले की अपेक्षा और अधिक पूर्णता के साथ पुनः रक्खूं, जिससे कि पाठक स्वयं उनके और मेरे विचारों के भेद को समझ लें।

मैं अपनी मर्यादाओं को स्वीकार करता हूं। मैंने विश्वविद्यालय की कोई शिक्षा नहीं पाई। मेरा स्कूली जीवन भी औसत दर्जे से कभी अच्छा नहीं रहा। मैं पास हो जाऊं, यही मेरे लिए बहुत था। विशेष योग्यता पाना तो मेरी आकांक्षा से परे की चीज थी। फिर भी आम शिक्षा के बारे में, जिसमें वह शिक्षा भी शामिल है, जिसे उच्च शिक्षा कहते हैं, मैं बड़े कड़े विचार रखता हूं और देश के प्रति अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि मेरे विचार स्पष्ट रूप से सबको मालूम हो जायं और उनकी वास्तविकता सबके सामने आ जाय। इसके लिए मुझे अपनी उस संकोच भावना को त्यागना पड़ेगा, जो प्रायः आत्म-दमन की हद तक पहुंच गई है। मुझे लोगों के खिल्ली उड़ाने का भय नहीं करना चाहिए और उससे भी कम अपनी लोकप्रियता या प्रतिष्ठा के कम होने की चिंता होनी चाहिए। यदि मैं अपने विश्वास को छिपाऊंगा तो मैं अपने निर्णय की भूलों को कभी दुरुस्त नहीं कर पाऊंगा। मैं उन्हें

ढूंढ़ने के लिए हमेशा उत्सुक हूं, उससे भी अधिक उन्हें सुधारने के लिए।

अब मैं अपने निष्कर्षों को बता दूं, जिनपर मैं कई वर्षों में पहुंचा हूं, और जब कभी अवसर मिला है, उनपर अमल किया है।

१. संसार में प्राप्त हो सकनेवाली ऊंची-से-ऊंची शिक्षा का भी मैं विरोधी नहीं हूं।

२. राज्य को जहां कहीं उसकी निश्चित उपयोगिता हो, वहां इसका खर्च उठाना चाहिए।

३. सामान्य आय में से सारी उच्च शिक्षा का खर्च चलाने के मैं विरुद्ध हूं।

४. मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हमारे कालेजों में साहित्य की जो इतनी सारी तथाकथित शिक्षा दी जाती है, वह सब एकदम व्यर्थ है और उससे शिक्षित वर्गों में बेकारी पैदा हुई है। यही नहीं, बल्कि जिन लड़के और लड़कियों को हमारे कालेजों की चक्की में पिसने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है, उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को भी इसने चौपट कर दिया है।

५. विदेशी भाषा के माध्यम ने, जिसके द्वारा भारत में शिक्षा दी जाती है, हमारे राष्ट्र को हद से ज्यादा बौद्धिक और नैतिक आघात पहुंचाया है। अभी हम अपने जमाने के इतने नजदीक हैं कि इस नुकसान का फैसला नहीं कर सकते, और ऐसी शिक्षा पानेवाले हमीको इसका शिकार और न्यायाधीश दोनों बनना है, जो कि प्रायः असंभव कार्य है।

अब मुझे यह बताना चाहिए कि ऊपर दिये निष्कर्षों पर मैं कैसे पहुंचा हूं। यह मैं शायद अपने कुछ अनुभवों के द्वारा ही सर्वोत्तम ढंग से बता सकता हूं।

बारह साल की उम्र तक मैंने जो भी ज्ञान प्राप्त किया, वह अपनी मातृभाषा गुजराती के द्वारा प्राप्त किया। उस समय हिसाब, इतिहास तथा भूगोल की कुछ-कुछ जानकारी रखता था। इसके बाद मैं एक हाई स्कूल में भरती

हुआ। पहले तीन साल तक मातृभाषा ही माध्यम रही, लेकिन स्कूल मास्टर का काम तो विद्यार्थियों के दिमाग में अंग्रेज़ी को ठूंसना था। इसलिए हमारा आधे से अधिक समय अंग्रेजी और उसके मनमाने हिज्जों और उच्चारणों पर काबू पाने में लगाया जाता था। एक ऐसी भाषा का पढ़ना हमारे लिए दुखद अनुभव था, जिसका उच्चारण ठीक उस प्रकार नहीं होता था, जिस प्रकार वह लिखी जाती थी। हिज्जों को कण्ठस्थ करना विचित्र-सा अनुभव था। लेकिन यह तो मैंने प्रसंगवश कह दिया है और मेरी दलील से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी पहले तीन साल तो तुलनात्मक दृष्टि से बिना कठिनाई के निकल गये।

मुसीबत तो चौथे साल से शुरू हुई। रेखागणित, बीजगणित, रसायन-शास्त्र, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, हरेक विषय अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ना पड़ता था। अंग्रेज़ी का जुल्म इतना अधिक था कि संस्कृत या फारसी तक अंग्रेजी के माध्यम से पढ़नी होती थी, मातृभाषा के द्वारा नहीं। यदि कोई विद्यार्थी कक्षा में गुजराती में, जिसे वह समझता था, बोलता था, तो उसे सजा मिलती थी। यदि कोई विद्यार्थी बुरी अंग्रेजी बोलता था, जिसे न वह अच्छी तरह बोल सकता था, न पूरी तरह समझ सकता था, तो इसमें अध्यापक को कोई आपत्ति नहीं होती थी। शिक्षक इसके लिए चिंता क्यों करे? उसकी अपनी अंग्रेजी भी किसी प्रकार निर्दोष नहीं थी। इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता था! अंग्रेजी उनके लिए उतनी ही विदेशी भाषा थी जितनी उनके विद्यार्थियों के लिए थी। इससे बड़ी गड़बड़ होती थी। हम विद्यार्थियों को बहुत-सी बातें कण्ठस्थ करनी पड़ती थीं, हालांकि हम उन्हें पूरी तरह नहीं समझ पाते थे और कभी-कभी तो बिल्कुल ही नहीं समझ पाते थे। जब शिक्षक हमें रेखागणित समझाने के लिए भरपूर प्रयत्न करते थे तो मेरा सिर घूमने लगता था। जबतक हम यूक्लिड की पहली पुस्तक के तेरहवें प्रमेय तक नहीं पहुंच गये, तबतक रेखागणित का कुछ भी मेरे पल्ले नहीं पड़ा, और पाठकों के सामने मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मातृभाषा के प्रति मेरे सारे प्रेम के बावजूद मैं आजतक रेखागणित,

बीजगणित आदि के तकनीकी शब्दों के गुजराती पर्यायवाची शब्द नहीं जानता। अब मैं जानता हूं कि जितना हिसाब, रेखागणित, बीजगणित, रसायन-शास्त्र और ज्योतिष सीखने में मुझे चार वर्ष लगे, उतना यदि अंग्रेजी के बजाय गुजराती में पढ़ा होता तो एक ही साल में आसानी से सीख लिया होता। उस हालत में इन विषयों को और अधिक सुगमता तथा स्पष्टता से समझा होता। गुजराती का मेरा शब्द-ज्ञान भी अधिक समृद्ध होता।

यह नहीं समझना चाहिए कि मैं अंग्रेजी या उसके श्रेष्ठ साहित्य का विरोधी हूं। 'हरिजन' के लेख अंग्रेजी के प्रति मेरे प्रेम के पर्याप्त प्रमाण हैं, लेकिन उसके साहित्य की महत्ता भारतीय राष्ट्र के लिए उससे अधिक उपयोगी नहीं है, जितनी कि इंग्लैण्ड के लिए उसकी सम-शीतोष्ण जलवायु अथवा दृश्यावली है। भारत को तो अपनी ही जलवायु, दृश्यावली और साहित्य में उन्नति करनी होगी, भले ही ये तीनों अंग्रेजी जलवायु, दृश्यावली तथा साहित्य की अपेक्षा घटिया दर्जे के क्यों न हों! हमें और हमारे बच्चों को अपनी निजी विरासत पर निर्माण करना है। यदि हम दूसरों की विरासत को लेते हैं तो अपने को नष्ट करते हैं। विदेशी सामग्री पर हम कभी उन्नति नहीं कर सकते। मैं चाहता हूं कि राष्ट्र अपनी भाषा के कोष को भरे और इसके लिए संसार की अन्य भाषाओं का कोष भी अपनी ही देशी भाषाओं में संचित करे। मुझे रवीन्द्रनाथ की अनुपम कृतियों के सौन्दर्य को जानने के लिए बंगला सीखने की आवश्यकता नहीं है। मैं उसे अच्छे अनुवादों द्वारा पा लेता हूं। टाल्स्टाय की कहानियों की कद्र करने के लिए गुजराती लड़के-लड़कियों को रूसी सीखने की जरूरत नहीं है। वे उन्हें अच्छे अनुवादों द्वारा पढ़ लेते हैं।

हमारी इस झूटी अभारतीय शिक्षा से लाखों व्यक्तियों की बढ़ती हुई और लगातार हानि हो रही है, उसके प्रमाण मैं रोज पा रहा हूं। जो स्नातक मेरे आदरणीय साथी हैं, उन्हें जब अपने आन्तरिक विचारों को व्यक्त करना पड़ता है तो वे स्वयं परेशान हो उठते हैं। वे अपने ही घरों में अजनबी हैं। अपनी मातृभाषा के शब्दों का उनका ज्ञान इतना सीमित है कि वे अंग्रेजी के शब्दों

और वाक्यों तक का सहारा लिये विना अपना भाषण समाप्त नहीं कर सकते न वे अंग्रेजी की किताबों के विना रह सकते हैं। वे प्रायः एक-दूसरे को अंग्रेजी में लिखते हैं। अपने साथियों का उदाहरण मैं यह वताने के लिए दे रहा हूं कि इस बुराई ने कितनी गहरी जड़ जमा ली है, क्योंकि हम लोगों ने अपने-को सुधारने का स्वयं जानबूझकर प्रयत्न किया है।

हमारे कालेजों में समय की जो वरवादी होती है, उसके पक्ष में यह दलील दी जाती है कि यदि कालेज में पढ़नेवालों में से एक भी जगदीश बोस पैदा हो सके तो हमें समय की वरवादी की चिंता करने की जरूरत नहीं। यदि यह वरवादी अनिवार्य होती तो मैं इस दलील का खुलकर समर्थन करता। मैं आशा करता हूं कि मैंने यह वतला दिया है कि न यह अनिवार्य थी, न अव भी हो सकती है। जो हो, वोस की उत्पत्ति से यह दलील देने में मदद नहीं मिलती, क्योंकि वोस वर्तमान शिक्षा की उपज नहीं थे। वह तो भयंकर वाधाओं के वीच अपने परिश्रम की वदौलत ऊंचे उठे और उनका ज्ञान लगभग ऐसा वन गया, जो सर्व-साधारण तक नहीं पहुंच सकता। मालूम पड़ता है, मानों हम ऐसा सोचने लगे हैं कि विना अंग्रेजी के जाने कोई भी वोस जैसा वनने की आशा नहीं कर सकता। मैं इससे अधिक मिथ्या धारणा की कल्पना नहीं कर सकता। कोई भी जापानी अपनेको इतना असहाय अनुभव नहीं करता, जितना हम अपनेको समझते जान पड़ते हैं।

विश्वविद्यालयों को अवश्य स्वावलम्वी वनना चाहिए। राज्य को तो केवल उन्हीं व्यक्तियों को शिक्षा देनी चाहिए, जिनकी सेवाओं की उसे आवश्यकता है। शिक्षा की अन्य सव शाखाओं के लिए उसे खानगी प्रयत्न को प्रोत्साहन देना चाहिए। शिक्षा का माध्यम तो तत्काल और हर हालत में वदल जाना चाहिए। प्रान्तीय भाषाओं को उनका उचित स्थान मिलना चाहिए। उच्चतर शिक्षा में अस्थायी अव्यवस्था को मैं दिन-प्रतिदिन वढ़ती भयंकर वरवादी की तुलना में पसंद करूंगा।

प्रान्तीय भाषाओं का दर्जा और व्यावहारिक मूल्य वढ़ाने के लिए मैं

चाहूंगा कि जो कानूनी अदालत जहां हो, उसकी भाषा उसी प्रदेश की हो। प्रान्तीय विधान सभाओं की कार्रवाही भी प्रान्तीय भाषा या जिसकी सीमा में एक से अधिक भाषाएं प्रचलित हों तो उनमें होनी चाहिए। किसी तमिल-भाषी के लिए कोई ऐसी रुकावट नहीं कि वह आसानी से तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ के, जो सब तमिल से मिलती-जुलती हैं, मामूली व्याकरण और कुछ सौ शब्द न सीख सके। केन्द्र में हिन्दुस्तानी की प्रमुखता होनी चाहिए।

मेरी राय में यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं है, जिसका निर्णय साहित्यज्ञों के द्वारा हो। वे इस बात का निर्णय नहीं कर सकते कि किस स्थान के लड़कों और लड़कियों की शिक्षा किस भाषा में हो। इस प्रश्न का निर्णय तो प्रत्येक स्वतंत्र देश में पहले ही हो चुका है। न वे यही निर्णय कर सकते हैं कि कौन-कौन-से विषय पढ़ाये जाने चाहिए। यह उस देश की आवश्यकताओं पर निर्भर करता है, जिस देश के वे बालक होते हैं। यह उनका अधिकार है कि राष्ट्र की इच्छा को यथासंभव सर्वोत्तम रूप में क्रियान्वित करें। जब हमारा देश वास्तव में स्वतंत्र होगा तो शिक्षा के माध्यम का प्रश्न केवल एक ही तरह से हल होगा। साहित्यिक लोग पाठ्यक्रम बनावेंगे और फिर उसके अनुसार पुस्तकें तैयार करेंगे, और स्वतंत्र भारत की शिक्षा पानेवाले देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे, जैसे कि आज वे विदेशी शासकों की जरूरतों को पूरा करते हैं। जबतक हम शिक्षित वर्गों के लोग इस प्रश्न के साथ खिलवाड़ करते रहेंगे, मुझे इस बात का बड़ा भय है कि हम जिस स्वतंत्र और स्वस्थ भारत का स्वप्न देखते हैं, उसका निर्माण नहीं कर सकेंगे। हमें तो सतत प्रयत्नपूर्वक अपनी गुलामी से मुक्त होना है, भले ही यह गुलामी शैक्षणिक हो, आर्थिक हो, सामाजिक हो या राजनैतिक। तीन चौथाई लड़ाई तो वह प्रयत्न होगा, जो इसके लिए किया जायगा।

इस प्रकार मैं दावा करता हूं कि मैं उच्चतर शिक्षा का दुश्मन नहीं हूं। लेकिन मैं जिस रूप में वह शिक्षा दी जा रही है, उसका दुश्मन हूं। मेरी योजना के अन्दर तो अब से अधिक और अब से अच्छे पुस्तकालय होंगे, अधिक संख्या में और अधिक अच्छी प्रयोगशालाएं होंगी, अधिक और अच्छे

शोध-संस्थान होंगे। उसके अन्तर्गत हमारे पास रसायन-शास्त्रियों, इंजीनियरों तथा अन्य विशेषज्ञों की फौज होगी, जो अपने राष्ट्र के सच्चे सेवक होंगे और जो अपनी उस जनता की विविध तथा बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे, जो अपने अधिकारों और आवश्यकताओं के विषय में अधिकाधिक सजग होती जा रही है और ये सारे विशेषज्ञ विदेशी भाषा नहीं, बल्कि जनता की भाषा बोलेंगे। ये लोग जो ज्ञान प्राप्त करेंगे, वह जनता की सामान्य सम्पत्ति होगी। तब मात्र नकल के स्थान पर सच्चा असली काम होगा और उसका खर्चा समान रूप से न्यायपूर्वक विभाजित होगा।

हरिजन
९ जुलाई, १९३८

: ३५ :

राष्ट्रीय शिक्षा

राष्ट्रीय शिक्षा विषयक मेरे विचारों के सम्बन्ध में इतनी अजीव-अजीव बातें कही गई हैं कि लोगों की जानकारी के लिए उनका सिलसिलेवार वर्णन करना शायद अप्रासंगिक न होगा।

मेरी राय में वर्तमान शिक्षा-पद्धति का सम्बन्ध एक नितांत अन्यायी सरकार के साथ होने के अतिरिक्त तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण बातों में दोष-पूर्ण है:

१. यह विदेशी संस्कृति पर इतनी आधारित है कि इसमें देशी संस्कृति के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

२. यह हृदय और हाथ की संस्कृति पर ध्यान नहीं देती और अपने-को केवल मस्तिष्क तक ही सीमित रखती है।

३. विदेशी माध्यम के द्वारा वास्तविक शिक्षा असंभव है।

हम इन तीनों दोषों की छानबीन करें। प्रारम्भ से ही पाठ्य पुस्तकों का सम्बन्ध उन वस्तुओं से नहीं आता, जिनसे लड़के और लड़कियों का हमेशा घरों में वास्ता पड़ता है, बल्कि उनमें वे बातें रहती हैं, जिनसे वे नितांत अपरिचित होते हैं। पाठ्य पुस्तकों के द्वारा लड़का यह नहीं जान पाता कि घर के जीवन में कौन-सी बात सही है, कौन-सी गलत है। उसे ऐसी शिक्षा कभी नहीं दी जाती, जिससे वह अपने पास-पड़ोस पर अभिमान कर सके। वह शिक्षा में जितना आगे बढ़ता जाता है, उतना ही वह अपने घर से दूर होता जाता है, यहांतक कि जब वह अपनी शिक्षा समाप्त करता है, वह अपने आसपास वालों से दूर हट जाता है, गृह जीवन में उसे रस नहीं आता,

गांवों के दृश्य उसके लिए कोई महत्व नहीं रखते। उसकी अपनी सभ्यता उसे निःसत्व, जंगली, अन्धविश्वासों से पूर्ण और व्यावहारिक दृष्टि से निकम्मी बताई जाती है। उसे शिक्षा इस ढंग से दी जाती है कि वह अपनी परंपरागत संस्कृति से विमुख हो जाता है। और यदि शिक्षित युवक पूर्णतया अराष्ट्रीय नहीं बने हैं तो इसलिए कि उनमें प्राचीन संस्कृति की जड़ें इतनी गहरी चली गई हैं कि उनके विकास की विरोधी शिक्षा भी उन्हें एकदम नष्ट नहीं कर सकती। यदि मेरा वश चलता तो मैं निश्चय ही अधिकांश मौजूदा पाठ्य पुस्तकों को समाप्त कर देता और ऐसी पाठ्य पुस्तकें तैयार करवाता, जो गृह-जीवन से संबंध रखती, जिससे लड़का ज्यों-ज्यों उन्हें पढ़े, उसके आसपास के जीवन का उसपर प्रभाव पड़े।

दूसरे, अन्य देशों के बारे में सचाई कुछ भी हो, भारत में तो जहां ८० फीसदी से ज्यादा आबादी खेती करनेवाली है और १० फीसदी उद्योग-धंधे चलाती है, केवल साहित्यिक शिक्षा देना और लड़के-लड़कियों को आगे के जीवन में हाथ-पैर की मेहनत के लिए अयोग्य बना देना एक अपराध है। मेरी तो वास्तव में धारणा है कि चूंकि हमारे समय का अधिकांश अपनी रोजी कमाने के लिए परिश्रम करने में जाता है, हमारे बच्चों को शुरू से ही शारीरिक श्रम के गौरव की शिक्षा दी जानी चाहिए। हमारे बच्चों को ऐसी शिक्षा नहीं देनी चाहिए, जिससे वे कायिक श्रम को हिकारत की निगाह से देखें। कोई कारण नहीं कि एक किसान का लड़का मदरसे में जाकर निकम्मा बन जाय, जैसाकि वह खेती-बारी के काम के लिए बन जाता है। यह दुःख की बात है कि हमारे मदरसों के लड़के शरीरश्रम को घृणित नहीं तो हेय तो मानते ही हैं। इसके अतिरिक्त भारत में यदि हम ऐसी आशा करें, जैसी कि हमें करनी चाहिए कि मदरसे जाने योग्य उम्र का हर लड़का और लड़की पब्लिक स्कूल में जाय तो हमारे पास मौजूदा ढंग की शिक्षा का खर्च उठाने के साधन नहीं हैं और न करोड़ों माता-पिता उतनी फीस दे सकते हैं, जितनी कि आज ली जाती है। इसलिए यदि शिक्षा को व्यापक बनाना है तो वह निःशुल्क होनी चाहिए। मेरी कल्पना है कि आदर्श शासन-

व्यवस्था में हम दो अरव रुपये, जो कि मदरसे जाने योग्य उम्रवाले तमाम वच्चों की शिक्षा के लिए आवश्यक हैं, खर्च नहीं कर सकेंगे। इसलिए इससे नतीजा यह निकलता है कि हमारे वच्चों को जितनी शिक्षा मिले, उसका आंशिक या पूरा भाग वे श्रम के रूप में अदा करें। मेरे विचार में ऐसा सर्वाधिक श्रम, जो लाभदायक हो, केवल कताई और वुनाई हो सकती है। लेकिन मेरे कथन की सिद्धि के लिए इस वात का कोई महत्व नहीं है कि हम सूत कताई का ही अवलम्वन लें अथवा और किसी रूप में श्रम करें, वशर्तें कि उससे लाभ होते रहने की गुंजाइश हो। जाँच करने पर इस वात का पता चलेगा कि कपड़े के उत्पादन की क्रियाओं से वढ़कर और कोई धंधा नहीं है, जो व्यावहारिक हो, लाभदायक हो, जिसे व्यापक पैमाने पर किया जा सके और जो सारे भारत के हमारे स्कूलों में चालू किया जा सके।

हमारे जैसे निर्धन देश में शारीरिक शिक्षा से दोहरा प्रयोजन सिद्ध होगा। एक तो उससे हमारे वच्चों की शिक्षा का खर्च निकलेगा, दूसरे, वे एक ऐसा धंधा सीख जायंगे, जिसका वे चाहें तो आगे के जीवन में अपनी आजीविका के लिए सहारा ले सकते हैं। ऐसी प्रणाली से हमारे वालक अवश्य स्वावलम्वी वनेंगे। हम हाथ-पैर की मेहनत से घृणा करना सीखें, इससे हमारा राष्ट्र जितना गिरेगा, उतना और किसी चीज से नहीं।

अव मैं हृदय की शिक्षा के विषय में दो शब्द कहना चाहता हूं। मैं नहीं मानता कि यह पुस्तकों के द्वारा दी जा सकती है। यह तो केवल शिक्षक के सजीव सम्पर्क से ही सम्भव हो सकती है, और प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शालाओं में शिक्षा देनेवाले कौन लोग हैं? क्या वे निष्ठा और चरित्रवाले पुरुष और स्त्रियां हैं? क्या उन्होंने स्वयं हृदय की शिक्षा पाई है? क्या उनसे यह आशा भी की जा सकती है कि वे अपने सुपुर्द किये गए लड़कों और लड़कियों के स्थायी गुणों पर ध्यान रखेंगे? नीची कक्षाओं के लिए अध्यापकों की नियुक्ति की पद्धति क्या उनके चरित्र के मार्ग में वहुत अधिक वाधक नहीं है? क्या अध्यापक जीविका चलाने योग्य वेतन भी पाते हैं? और हम जानते हैं कि प्रारंभिक पाठशालाओं के अध्यापकों का चुनाव

उनकी देशभक्ति को देखकर नहीं किया जाता। वहां तो केवल वही लोग आते हैं, जिन्हें और कोई धंधा नहीं मिल सकता।

अन्तिम बात है शिक्षा के माध्यम की। इस विषय पर मेरे विचार सब लोग इतना जानते हैं कि यहां उन्हें फिर से बताने की आवश्यकता नहीं है। विदेशी भाषा के माध्यम ने लड़कों के दिमाग को कुण्ठित कर दिया है, हमारे बच्चों के स्नायुयों पर अनुचित बोझ डाला है, उन्हें रट्टू पीर और नकलची बना दिया है, मौलिक कार्य और विचार के लिए अयोग्य कर दिया है और अपनी शिक्षा को अपने परिवार अथवा जनता तक पहुंचाने में असमर्थ बना दिया है। विदेशी माध्यम ने हमारे बच्चों को अपने ही घर में पूरी तरह पराया बना दिया है। वर्तमान पद्धति की यह सबसे दुखान्त घटना है। विदेशी माध्यम ने हमारी देशी भाषाओं के विकास को रोक दिया है। यदि मेरे हाथ में मनमानी करने की सामर्थ्य होती तो मैं आज से ही अपने लड़कों और लड़कियों की विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ाई बंद करा देता और सारे अध्यापकों तथा प्राध्यापकों से इस माध्यम को बदलवा देता, अन्यथा उन्हें बर्खास्त कर देता। मैं पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी की प्रतीक्षा नहीं करूंगा। वे तो परिवर्तन के पीछे-पीछे चली आवेंगी। यह एक ऐसी खराबी है, जिसका तत्काल इलाज होना चाहिए।

विदेशी माध्यम के मेरे इस अटल विरोध का नतीजा यह हुआ है कि लोग मुझपर यह अनुचित आरोप लगाते हैं कि मैं विदेशी संस्कृति या अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई के विरुद्ध हूं। 'यंग इंडिया' के पाठकों ने देखा होगा कि मैंने प्राय: कहा है कि मैं अंग्रेजी को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा कूटनीति की भाषा मानता हूं और इसलिए उसके ज्ञान को हममें से कुछ लोगों के लिए आवश्यक समझता हूं। चूंकि उसमें विचार और साहित्य की अत्यन्त समृद्ध निधियां प्राप्त हैं, अत: मैं उन लोगों को सावधानी से उसके अध्ययन के लिए निश्चय ही प्रोत्साहित करूंगा, जिनमें भाषा-सम्बन्धी प्रतिभा है और उनसे आशा करूंगा कि वे उन निधियों को देशी भाषाओं में अपने देश के लिए अनुवाद करें।

हम दुनिया से पृथक रहें या अपने बीच में दीवार खड़ी करें, यह तो मेरी कल्पना से एकदम परे है। लेकिन इतना मैं आदर के साथ कहूंगा कि दूसरी संस्कृतियों का गुण या मान अपनी संस्कृति के बाद में तो अवश्य हो सकता है, पहले कदापि नहीं। मेरी निश्चित राय है कि हमारी संस्कृति का भण्डार जितना भरा-पूरा है, उतना और किसीका नहीं है। हमने उसे जाना नहीं है। हम उसके अध्ययन से दूर रखे गये हैं और उसके मूल्य को हमसे कम कराया गया है। हमने उसके अनुसार जीना प्रायः छोड़ दिया है। बिना आचार के कोरा ज्ञान वैसा ही है जैसा मोमिया लगा हुआ शव। वह देखने में तो शायद सुन्दर होता है, परन्तु उसमें स्फूर्ति देने या ऊपर उठानेवाली कोई बात नहीं होती। मेरा धर्म मुझे यह अनुज्ञा नहीं देता कि मैं अन्य संस्कृतियों को तुच्छ मानूं या उनका अनादर करूं, उसी तरह वह इस बात पर भी जोर देता है कि मैं स्वयं अपनी संस्कृति को मानूं और उसके अनुसार चलूं, क्योंकि ऐसा न करने का अर्थ सामाजिक दृष्टि से आत्म-हत्या कर लेना होगा।

'यंग इण्डिया'
१ सितम्बर, १९२१

: ३६ :

भारत में राष्ट्रवाद

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दक्षिण अफ़्रीका में भारतीय चारों ओर प्रतिवंधों से घिरे हुए हैं, जो उन उपनिवेशों के अनुसार, जिन्होंने वे प्रतिवंध लगाये हैं, ज्यादा या कम कठोर हैं और उनके विषय में गलतफहमियाँ भी बहुत हैं। अवतक हमारे उन पाठकों ने, जिन्होंने इन पृष्ठों को ध्यान से पढ़ा और समझा होगा, यह देखा होगा कि हमारे अभी दिये हुए दो वयानों की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं। इस लेख का प्रयोजन यह वताना है कि इन विपरीत परिस्थितियों से हम क्या सवक ले सकते हैं। हमें वताया गया है कि मुसीवतों का फल मीठा होता है, समझदार आदमी उनसे कुछ सीख सकता है। अव हम देखें कि मुसीवत से क्या हमने कोई सवक सीखा है?

भारत में वसनेवाली कौमों में तीव्र भेद हैं। उदाहरण के लिए तमिल, कलकतिया, जैसा कि उत्तरी प्रदेशों के निवासियों को पुकारा जाता है, पंजावी, गुजराती, आदि-आदि। इसके अतिरिक्त धर्म के अनुसार मुसलमान, हिन्दू, पारसी, आदि के भी भेद हैं। फिर हिन्दुओं में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इत्यादि दूसरे लोग हैं। हमारी समझ में यदि हम अपने देश से इन सव भेदों और अर्थों को मूल्यवान सामग्री की भाँति संरक्षित करने के लिए इतनी दूर लाये हों तो निस्सन्देह हमें पग-पग पर वाधा का सामना करना पड़ेगा और उससे हमारी प्रगति रुकेगी। दक्षिण अफ़्रीका भारतीयों के लिए महान जगन्नाथपुरी की भांति होना चाहिए, जहां सारे भेदभाव भुला दिये जाते हैं और सव वरावरी के वन जाते हैं। यहांपर हम तमिल,

कलकत्तावाले, मुसलमान या हिन्दू, ब्राह्मण या वैश्य नहीं हैं, न होने चाहिए, बल्कि हम सीधे-सादे और पूर्णतया भारतीय हैं, और इस प्रकार हमारा भाग्य एक-दूसरे के साथ बंधा है। यह कहने से कोई लाभ नहीं हो सकता कि सारे वर्गों के स्वार्थ सब प्रकार से एक हैं। ऐसा होने पर यह स्पष्ट है कि हमारा कर्त्तव्य इन भेदभावों को दूर कर देना है। यह सबसे पहला और अनिवार्य कदम है। हम जानते हैं कि हमारे लोगों ने उस दिशा में बड़ी प्रगति की है, लेकिन हमारी मुसीबतों से सामान्य शिक्षा ग्रहण करने में यह वक्तव्य इस चेतावनी के बिना अधूरा रहेगा।

प्रत्येक भारतवासी का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात से ही संतुष्ट न हो जाय कि अपने और अपने परिवार के खाने-पहनने के लिए काफी कमा लिया तो सबकुछ कर लिया। उसे अपने समाज की भलाई के लिए भी दिल खोलकर धन देने के लिए तैयार रहना चाहिए, और हम जानते हैं कि सारे दक्षिण अफ़्रीका में समाज अपने कर्त्तव्य-पालन में एकदम चूका नहीं है, लेकिन हमें यह कहने में संकोच नहीं कि वह इससे भी और अधिक कर सकता था।

साहस और धीरज ऐसे गुण हैं, जिनकी कठिन परिस्थितियों में पड़ जाने पर हर किसीको आवश्यकता होती है। पिछली लड़ाई में हमें दक्षिण अफ़्रीका में अंग्रेजों में इन गुणों को चरम विकसित रूप में देखने का अनमोल अवसर मिलता था। लेडीस्मिथ की घेरेबंदी और बचाव का इतिहास सदा अदम्य उत्साह तथा अनन्त धीरज का दृष्टान्त रहेगा। इस लड़ाई में जिन भारतीयों ने घायलों को उठाने का काम किया, उन्होंने कोलेंसो और स्पिओन कौप के युद्धों में जो दृश्य देखे, वे उन्हें भूल नहीं सकेंगे। भयंकर कठिनाइयों तथा भारी क्षति के बावजूद उन्होंने झुकने का नाम नहीं लिया। एक बार स्वयं जनरल बुलर को भी लगने लगा कि बचाव असम्भव है, दुनिया जानती है कि उसी समय कंधार के विजेता का तार से संदेश मिला कि जबतक जनरल बुलर के पास एक भी आदमी शेष है, उसे हार नहीं माननी चाहिए। इसका जो महान परिणाम हुआ उसे हम सब जानते हैं।

हमारा संघर्ष उतना कठिन नहीं है, न उसके विरुद्ध लड़ने के लिए उतनी बहादुरी की जरूरत है, लेकिन फिर भी साहस और धीरज का सबक उससे हमें मिलता है, जो हम को सीखना चाहिए। यदि लेडीस्मिथ में घिरे मुट्ठी-भर लोगों को बचाने के लिए धन, जन और समय के बलिदान का कोई हिसाब नहीं लगाया गया, क्योंकि वह ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिष्ठा का प्रश्न था, तो क्या जब हम अपनी स्वाधीनता के संघर्ष में जुटे हुए हैं, हमें भी उसी प्रकार सोचकर इस नतीजे पर पहुंचना चाहिए कि इन अस्थायी मुसीबतों को पार करने के लिए हमें भी पर्याप्त साहस और धीरज का परिचय देना है? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि "मनुष्य की सच्ची परीक्षा विपत्ति में ही होती है" और "ऐसे समय में रोने-धोने से घाव नहीं भरा करते।"

परन्तु हमें कुछ और भी चाहिए। एक राष्ट्र की हैसियत से भौतिक चीजों को तात्विक दृष्टि से तुच्छ समझने और जीवन में दैनिक सुविधाओं को नगण्य मानने का हमारा स्वभाव हो सकता है। ईसाई प्रचारकों ने तो हमपर इसका आरोप लगाया है। ऐसी वृत्ति के प्रति हमारे मन में अनन्य श्रद्धा है, लेकिन दक्षिण अफ़्रीका में ऐसी वृत्ति रखना गलत होगा। ऐसी वृत्ति उन लोगों के लिए प्रशंसा की चीज है जो भौतिक लाभ के लिए प्रयत्न-शील नहीं हैं, लेकिन जो अपने-आपको धनवान बनाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना बहाते हैं, उनके लिए यह वृत्ति मिथ्याचार कही जायगी। हम नहीं जानते कि दक्षिण अफ़्रीका में बहुत-से भारतीय अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के अतिरिक्त और किसी इच्छा से आये हैं। ऐसी अवस्था में इस प्रकार के लोगों के लिए तत्वतः यही उचित है कि वे स्वाभाविक रीति से चलें और अपनी आय के अनुपात में खर्च करने को तैयार हो जायं। तब भारतीयों के विरुद्ध कोई यह आरोप नहीं लगा सकेगा कि उनका तो कोई खर्च ही नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम भारतीय समाज को भोग-विलास में डूब जाने की सलाह दे रहे हैं। हम तो केवल इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि जहां तक सम्भव हो हमें 'जैसा देस वैसा भेस' रखना चाहिए और फिर भी मन की वृत्ति इन चीजों से अलिप्त रहनी चाहिए। यदि हमें

ऐसी सुख-सुविधाएं प्राप्त हो सकती हैं तब तो ठीक है। यदि नहीं प्राप्त होतीं तब भी कोई बात नहीं है।

लेकिन जो समाज यह समझता है कि दूसरे उसके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, उसके लिए सबसे अधिक आवश्यकता प्रेम और उदारता के गुणों की है। इस बात को सब जानते हैं कि आखिर मनुष्य परिस्थितियों का दास है। अतः परिस्थितिवश वह बिल्कुल अनजाने ऐसे काम कर डालता है, जो अनुचित है। तब क्या हमारे लिए यह उचित नहीं है कि हम उनके विषय में कोई निर्णय करते समय उदारता से काम लें? हम ऐसे राष्ट्र के लोग हैं, जो धर्म-चिंतन करते हैं और निष्क्रिय प्रतिरोध तथा बुराई के बदले भलाई करने के सिद्धान्त में निष्ठा रखते हैं। हम तो यहांतक दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि हमारे विचार भी उन व्यक्तियों के कामों पर असर डाल सकते हैं, जिनके बारे में हम सोचते हैं। दैनिक जीवन में हम प्रायः इस प्रकार के उदाहरण देखते हैं। एक आदमी यदि कोई भारी अपराध करता है तो उसका चेहरा इस प्रकार बदल जाता है, मानो उस पर दुष्कर्म की छाप लग गई हो। इसी प्रकार अगर कोई बहुत अच्छा काम करता है तो उसके चेहरे पर शुभ कार्य की झलक दीखने लगती है। इस तरह मनुष्य अपने कार्यों से लोगों को आकर्षित करता या दूर हटाता पाया जाता है। इसलिए हम यह अपना परम कर्तव्य मानते हैं कि हमारे विचार से जो हमारे साथ बुरा व्यवहार करते हैं, उनके प्रति भी हम अपने दिल में बुरे विचार न आने दें। जो हमारे साथ भलाई करते हैं, उनके साथ हम भलाई करें तो इसमें कौन बड़े सद्‌गुण की बात है। ऐसा तो अपराधी लोग ही करते हैं। लेकिन यदि विरोधी के प्रति हम भलाई करें तो तारीफ की बात है। अगर इस सीधी-सी बात को हम ध्यान में रक्खें तो हमारे विचार से हमें इतनी जल्दी सफलता मिल सकती है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हम आशा करते हैं कि इस लेख में हमने जिन मुद्दों पर सरसरी तौर पर विचार किया है उन पर आगे चलकर विस्तार से चर्चा करेंगे। इस समय तो हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि हम अपने देशवासियों से अनुरोध करें कि वे हमने

जो कुछ कहा है, उसपर विचार करें और सदा सावधान रहें, अन्यथा जिस प्रकार हम तूफानी लहरों में फंसे हैं, कोई भी बड़ी लहर हमें अपने अन्दर समा लेगी और उस समय बचने के लिए हम कुछ करना चाहें तो उसका समय नहीं रहेगा।

'इंडियन ओपीनियन'
२० अगस्त, १९०३

: ३७ :

महान प्रहरी

शान्तिनिकेतन के गायक ने 'मॉडर्न रिव्यू' में एक वड़ा सुन्दर लेख लिखा है। यह शब्द-चित्रों की एक मालिका है, जिसे वह ही गूंथ सकते थे। इसमें सत्ता, दासता की मनोवृत्ति अथवा भय या आशा से किसी भी सनक का आंख मूंदकर अनुसरण करने को जिस नाम से भी पुकारा जाय, उसके विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई गई है। यह सारे कार्यकर्त्ताओं को वड़े ही सुखद और सुन्दर ढंग से याद दिलाता है कि हमें धीरज नहीं खोना चाहिए और हमें किसीपर किसीका मत नहीं लादना चाहिए, भले ही वह मत कितने ही वड़े आदमी का क्यों न हो। कविवर कहते हैं कि जो चीज बुद्धि या हृदय को ठीक न लगे, उसे तुरंत अस्वीकार कर देना चाहिए। यदि हम स्वराज्य पाना चाहते हैं तो हमें सत्य पर, जैसा कि हम उसे जानते हैं, दृढ़ रहना चाहिए। जो सुधारक इस वात पर नाराज हो जाता है कि उसके सन्देश को स्वीकार नहीं किया गया, उसे जंगल में जाकर तटस्थ बुद्धि से देखना, प्रतीक्षा करना और ईश्वर की प्रार्थना करना सीखना चाहिए। इन सारी वातों से सभी हार्दिक रूप में सहमत होंगे और सत्य तथा विवेक के पक्ष में अपनी आवाज ऊंची करने के लिए कविवर अपने देशवासियों के धन्यवाद के पात्र हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि हम अपने विवेक को दूसरे के हवाले कर देते हैं तो हमारी परवर्ती स्थिति पूर्ववर्ती स्थिति से भी बुरी होगी, और यह देखकर मुझे वड़ा दुख होगा कि मैंने जो कुछ कहा या किया, उसका देश ने विना सोचे-विचारे आंख मूंदकर अनुसरण किया। मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि प्रेम के आगे आंखें मूंदकर आत्म-समर्पण कर देना

प्रायः अत्याचारी के अत्याचार को लाचार होकर स्वीकार करने की अपेक्षा अधिक अनिष्टकर होता है। अत्याचारी के गुलाम की मुक्ति की आशा होती है, प्रेम के गुलाम की नहीं।

कविवर ने सचेत और सजग रहने की, कि कहीं हम सोचना ही न बन्द कर दें, आवश्यकता के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उस सबसे मैं सहमत हूं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मैं उनकी इस धारणा का भी समर्थन करता हूं कि आज देश में बहुत बड़े पैमाने पर लोग आंख मूंदकर चल रहे हैं। मैंने बार-बार लोगों से कहा है कि वे विवेक-बुद्धि से काम लें और मैं कविवर को भरोसा दिलाना चाहता हूं कि आज यदि सौभाग्य से यह देश चर्खे को समृद्धि का स्रोत मानने लगा है, तो ऐसा उसने बहुत सोच-विचार तथा संकोच के बाद किया है। मुझे पूरा विश्वास नहीं है कि अब भी शिक्षित भारत के लोग चर्खे में निहित सत्य को आत्मसात कर पाये हैं। ऊपर के कूड़े-करकट को देखकर कविवर यह न मानें कि अंदर भी वही है। उन्हें सचाई की तह में पैठकर स्वयं यह देखना चाहिए कि चर्खे को अंध आस्था के कारण स्वीकार किया गया है अथवा उनकी बुद्धि को यह चीज आवश्यक जान पड़ी।

मैं तो वास्तव में कविवर से लेकर किंकर तक से कहूंगा कि वे यज्ञ के रूप में कातें। जब युद्ध छिड़ जाता है तब कवि अपनी वीणा को उठाकर रख देता है, वकील अपनी कानून की पोथियां, बालक अपनी पाठ्य-पुस्तकें। कवि युद्ध की समाप्ति पर सच्चा गीत गा सकता है, वकील भी जब लोगों के पास आपस में लड़ने को समय होगा, तब कानून की पोथियां हाथ में लेगा। जब किसी घर में आग लगती है, तब घर के सब लोग बाहर आ जाते हैं और आग बुझाने के लिए एक-एक डोल उठा लेते हैं। जब मेरे आसपास के लोग भूखों मर रहे हैं तब मेरा काम यही हो सकता है कि मैं उनके लिए खाना जुटाऊं। मेरी पक्की धारणा है कि भारत उस घर की भांति है, जिसमें आग लगी है, क्योंकि उसके पौरुष को रोज झुलसाया जा रहा है, वह भूखों मर रहा है, कारण कि उसके पास अपनी रोटी कमाने के लिए काम नहीं

है। खुलना के लोग भूखों मर रहे हैं। इसलिए नहीं कि वे काम नहीं कर सकते, वल्कि इसलिए कि उनके पास काम नहीं है। सेडल जिले लगातार चौथी वार अकाल के दौर से गुजर रहे हैं, उड़ीसा तो वहुत समय से अकाल-पीड़ित है। भारत हमारे नगरों में नहीं वसा है। वह तो अपने साढ़े सात लाख गांवों में रहता है, और नगर गांवों के सहारे जीते हैं। वे अपने धन को दूसरे देशों से नहीं लाते। नगरवासी लोग यूरोप, अमरीका और जापान की वड़ी-वड़ी पेढ़ियों के दलाल और कमीशन पाने वाले एजेंट हैं। पिछले दो सौ वर्षों में इस देश का जो खून चूसा गया है, उसमें इन नगरों ने विदेशी पेढ़ियों के साथ सहयोग किया है। मैं अपने अनुभव के आधार पर मानता हूं कि भारत दिनोंदिन गरीव होता जा रहा है। उसके पांवों में रक्त का संचार प्रायः वंद हो गया है और यदि इसके उपचार की ओर ध्यान नहीं देते तो वह एकदम गिरकर दम तोड़ देगा।

भूख से मरते और वेकार लोगों के लिए काम और उससे मिलने-वाली रोटी ही ईश्वर है। उनके लिए ईश्वर का एकमात्र स्वीकार्य रूप यही हो सकता है। ईश्वर ने मानव की सृष्टि काम करके भोजन जुटाने के लिए की और कहा कि जो विना काम किये खाते हैं, वे चोर हैं। भारत के अस्सी प्रतिशत लोग अनिवार्य रूप में आधे वर्ष चोर होते हैं। यदि भारत एक विशाल कारागार वन गया है तो इसमें आश्चर्य क्या है। भूख ही वह कारण है, जो भारत को चर्खे की ओर लिये जा रहा है। चर्खे की पुकार सवसे उदात्त है, क्योंकि वह प्रेम की पुकार है और प्रेम ही स्वराज्य है।

मैं विकास चाहता हूं, मैं आत्म-निर्णय का अधिकार चाहता हूं, मैं स्वतंत्रता चाहता हूं, लेकिन मैं ये सव चीजें आत्मा की खातिर चाहता हूं। मुझे इसमें शक है कि लौह युग पाषाण युग के आगे वढ़ा है। मैं उदासीन हूं। हमें अपनी वौद्धिक शक्ति और अन्य सव शक्तियों का उपयोग आत्मा के विकास के लिए करना है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न किसी व्यक्ति के वारे में मैं आसानी से ऐसा सोच सकता हूं कि वह मानव-जाति के लिए कोई स्थायी और नया आविष्कार कर सकता है, लेकिन उससे भी अधिक

आसानी से मैं इस संभावना की कल्पना कर सकता हूं कि जिस व्यक्ति के पास अपने मार्ग को प्रकाशित करने अथवा अपनी तोड़ेदार बन्दूक में चिनगारी लगाने के लिए लोहे के एक टुकड़े और चकमक पत्थर के अलावा और कुछ नहीं है, वह ईश्वर का नित नवीन गुणगान करते हुए इस दुख-संतप्त धरित्री को शान्ति और सद्भावना का सन्देश दे सकता है। लोगों से चर्खा अपनाने का कहने का अर्थ है श्रम की गरिमा को स्वीकार करने को कहना।

विदेशी वस्त्रों के प्रति हमारे प्रेम ने चर्खे को उसके गौरवपूर्ण स्थान से हटाया है। इसलिए मैं विदेशी कपड़ा पहनना पाप समझता हूं। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच बहुत अधिक या तनिक भी अन्तर नहीं करता। जो अर्थ-व्यवस्था व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक हित को चोट पहुंचाती है, वह अनैतिक है और इसलिए पापपूर्ण है। इस प्रकार जो अर्थ-व्यवस्था एक देश को दूसरे देश को लूटने की छूट देती है, वह अनैतिक है। अमरीका का गेहूं खाना और अपने पड़ोस के अन्न विक्रेता को ग्राहकों के अभाव में भूखों मरने देना पापपूर्ण है। इसी प्रकार जब मैं जानता हूं कि मैंने पड़ोस के सूत कातनेवालों और बुनकरों द्वारा तैयार किया गया कपड़ा पहना होता तो मैं अपना बदन भी ढंकता और उन्हें भी अपनी रोटी-कपड़ा कमाने की सुविधा कर देता, तब वैसी हालत में रीजैंट स्ट्रीट के सुन्दर और नई फैशन के कपड़े खरीदना पाप है। अपने पाप की प्रतीति होते-होते ही मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं विदेशी वस्त्रों को आग में होम कर अपने-को पवित्र बना लूं और भविष्य में अपने पड़ोसियों द्वारा बुनी खुरदरी खादी से ही संतोष करूं। यदि मुझे यह मालूम हो कि मेरे पड़ोसी तो इस धन्धे को छोड़ चुके हैं, इसलिए वे फिर से चर्खे को नहीं अपना सकते तो उस अवस्था में मुझे स्वयं ही चर्खा चलाना आरम्भ करके उसे लोकप्रिय बनाना चाहिए।

मैं कविवर से निवेदन करना चाहता हूं कि मैं उन्हें वही कपड़े जलाने को कहता हूं, जो सचमुच उन्हींके हों, और हैं। यदि वे उन कपड़ों को गरीबों के और अधनंगे लोगों के मानते तो उन्होंने उनको कबका गरीबों के सुपुर्द कर दिया होता। अपने विदेशी कपड़ों को जलाकर मैं अपनी लज्जा को

जलाता हूं। मैं नंगों को काम देने की वजाय, जिसकी उन्हें सख्त जरूरत है, कपड़े देता हूं, जो उन्हें नहीं चाहिए तो यह उनका अपमान है। मैं ऐसा नहीं करूंगा। मैं उनका संरक्षक बनने का पाप नहीं करूंगा, लेकिन यह समझ में आने पर कि उन्हें गरीब बनाने में मेरा भी हाथ रहा है, मैं उन्हें अपनी जूठन और अपने शरीर से उतरे कपड़े न देकर उनको उचित और गौरवपूर्ण स्थान दूंगा, अपना सर्वोत्तम भोजन और वस्त्र दूंगा और उनके काम में स्वयं भी सम्मिलित हो जाऊंगा।

यह भी सही नहीं है कि असहयोग अथवा स्वदेशी की योजना के पीछे दूसरों के वर्जन की भावना है। मेरी विनयशीलता ने मुझे ऊंचे मंच पर से यह घोषणा नहीं करने दी कि असहयोग, अहिंसा तथा स्वदेशी का सन्देश अखिल विश्व के लिए है। इसके अतिरिक्त जिस भूमि पर यह सन्देश दिया गया है, उस भूमि पर अगर यह फलित नहीं होता तो निश्चित है कि यह सन्देश बेकार है। इस समय तो भारत के पास सिवा उसके पतन, मुफलिसी और महामारी के दुनिया को देने के लिए कुछ नहीं है। क्या हम दुनिया को उसके प्राचीन शास्त्र भेजें? उनके तो बहुत-से संस्करण हुए हैं और अविश्वासी तथा बुतपरस्त दुनिया उनकी ओर ध्यान भी नहीं देती, क्योंकि हम जोकि उन शास्त्रों के विरासतदार और रक्षक हैं, उनपर आचरण नहीं करते। इसलिए दुनिया को कुछ देने से पहले मुझे स्वयं कुछ प्राप्त कर लेना चाहिए। हमारा असहयोग न अंग्रेजों के विरुद्ध है, न पश्चिम के। हमारा असहयोग तो उस प्रणाली के विरुद्ध है, जो अंग्रेजों ने स्थापित की है, हमारा असहयोग उस भौतिकवादी सभ्यता और उसके साथ जुड़े हुए लोभ-लालच तथा कमजोरों के शोषण के विरुद्ध है। हमारा असहयोग अपने घर में फिर से लौट आना है। हमारे असहयोग का मतलब है अंग्रेज़ शासकों के साथ उनकी शर्तों पर सहयोग करने से इन्कार कर देना। हम उनसे कहते हैं, "आप आइये और हमारी शर्तों पर हमारे साथ सहयोग कीजिए, हमें अपने पैर मजबूती से अपनी धरती पर जमाये रखने चाहिए। डूबता आदमी दूसरों को नहीं बचा सकता। दूसरों को बचाने की क्षमता प्राप्त

करने के लिए पहले हमें अपनेको बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। भारतीय राष्ट्रवाद वर्जनशील नहीं है, न आक्रामक और न ध्वंसात्मक है। वह स्वास्थ्यकर, धार्मिक और इसलिए मानवतावादी है। भारत को मानवता के लिए मर मिटने की इच्छा करने से पहले जीना सीखना चाहिए।

कवि-सुलभ प्रवृत्ति के अनुसार ही कविवर भविष्य के लिए जी रहे हैं और चाहते हैं कि हम भी वैसा ही करें। वह हमारी चमत्कृत आंखों के सामने पक्षियों का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं। पक्षी प्रभात में ईश्वर का गुणगान करते हुए अम्बर में उड़े चले जा रहे हैं। इन पक्षियों को उनका दिन का भोजन मिल चुका है और आकाश में उड़े तब उनके डैने काफी विश्राम पा चुके थे। उनकी नसों में पिछली रात को नये रक्त का संचार हो चुका था। लेकिन मैंने तो शोक-विह्वल मन से उन पक्षियों को देखा, जो शक्ति के अभाव में पंख फड़फड़ाने के लिए भी नहीं फुसलाये जा सकते थे। भारतीय आकाश के तले मानव-पक्षी रात को सोने का बहाना करते समय जितना दुर्बल होता है उससे अधिक दुर्बल वह सवेरे उठते समय होता है। यहां करोड़ों लोगों का जीवन सतत जागरण अथवा सतत संज्ञा-शून्यता का जीवन है। यह ऐसी दुःखद स्थिति है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, और उसकी अनुभूति तभी हो सकती है, जब कोई उसे स्वयं भोगकर देखे। मैंने तो किसी बीमार रोगी को कबीर का कोई भजन सुनाकर शान्त करना असंभव पाया है। करोड़ों भूखे लोग तो एक ही कविता की मांग करते हैं, अर्थात शक्ति देनेवाला भोजन। लेकिन कोई वह भोजन दे नहीं पा रहा है। उन्हें अपना भोजन स्वयं प्राप्त करना है और उसे वे अपने पसीने की कमाई से ही पा सकते हैं।

यंग इण्डिया
१३ अक्तूबर, १९२१

: ३८ :

आर्थिक उन्नति

"आज के विषय पर आपके सामने बोलने के लिए जब मैंने श्री कपिलदेव मालवीय का निमंत्रण स्वीकार किया, तब मुझे अपनी सीमाओं का ध्यान था और उनपर खेद भी था। आपकी समिति अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखती है। आपने अपने इस वर्ष के लिए और अगले वर्ष के लिए निश्चित किये गए विषयों पर बोलने के हेतु सम्मानित विशेषज्ञों को चुना है। मैं ही एक अकेला ऐसा वक्ता दिखाई देता हूं, जो अपने कार्य का निर्वाह करने में अक्षम हूं। साफ और सही कहूं तो आप स्वाभाविक रूप में, जिस अर्थशास्त्र को समझते हैं, उसका मुझे बहुत थोड़ा ज्ञान है। उस दिन शाम के भोजन के समय एक मित्र ने मेरी खब्तों के बारे में सवालों की झड़ी लगा दी। मैंने उसकी जिरह का खुशी से अपने को शिकार हो जाने दिया। उसे यह जानने में कठिनाई नहीं हुई कि मैं उन मामलों में एकदम कोरा हूं। उसे लगा कि मेरा विश्वास के साथ बोलना उस व्यक्ति की भांति है, जो जानता नहीं कि वह अज्ञानी है। मैं समझता हूं कि जब उसे यह मालूम हुआ कि मैंने अर्थशास्त्र के विषय में मिल, मार्शल, एडम स्मिथ तथा अन्य लेखकों जैसे विख्यात अधिकारियों के ग्रंथ नहीं पढ़े तो उसे अचंभा हुआ और झुंझलाहट भी। हताश होकर उसने मुझे सलाह दी कि अर्थशास्त्र के मामलों में जन-सामान्य के समय और धन की कीमत पर प्रयोग करने से पहले मैं इन कृतियों को पढ़ जाऊं। उसे यह पता नहीं था कि मैं तो ऐसा अपराधी हूं जिसका उद्धार नहीं हो सकता। मैं अपने प्रयोग उन मित्रों के बल पर करता रहता हूं, जो मुझमें विश्वास रखते हैं, क्योंकि जीवन में हमें ऐसे अवसर प्राप्त होते हैं,

जबकि कुछ बातों में बाहरी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। हमारी अन्तरात्मा से ध्वनि आती है, "तुम सही रास्ते पर हो। न अपने बाएं मुड़ो, न दाएं, सीधी और पतली पगडंडी पर चलते जाओ।" इस प्रकार की सहायता के सहारे हम धीमे ही सही, आगे की ओर निश्चित और मज़बूत कदमों से बढ़ते ही जाते हैं। यही मेरी स्थिति है। शायद आपको मेरा अनधिकार प्रवेश इसलिए अच्छा लगे कि मैं समरसता से कुछ अलग ले गया। बहुत समय तक लगातार स्वादिष्ट भोजन करने के बाद कभी-कभी उपवास करना आवश्यक हो जाता है। जो बात, शरीर के लिए है, मेरे विचार में वही बात बुद्धि के लिए भी है।

अपने अनुभवों और प्रयोगों के क्षेत्र में ले जाने के पहले आज के व्याख्यान के शीर्षक "क्या आर्थिक उन्नति वास्तविक उन्नति के मार्ग में बाधक है" के विषय में आपस में सफाई कर लेना शायद अच्छा होगा। मेरे ख्याल से आर्थिक उन्नति से हमारा आशय सीमाहीन भौतिक विकास से है और वास्तविक उन्नति से हमारा मतलब नैतिक उन्नति से है, अर्थात हमारे अन्तर के शाश्वत तत्व की उन्नति। इसलिए प्रस्तुत विषय को यों रख सकते हैं— "क्या नैतिक उन्नति की वृद्धि भौतिक प्रगति के अनुपात में नहीं होती ?" मैं जानता हूं कि यह विषय हमारे सामने के विषय की निस्बत ज्यादा व्यापक है। लेकिन मेरा विचार है कि जब हम छोटी चीज़ को छोड़ते हैं, तो हमारा उद्देश्य सदा बड़ी चीज़ को उठाने का रहता है, क्योंकि हम इतना अनुभव करने योग्य तो विज्ञान जानते ही हैं कि हमारे इस दृश्य जगत में पूर्ण विश्राम या गतिशून्यता जैसी कोई चीज़ नहीं है। इसलिए यदि भौतिक उन्नति नैतिक उन्नति के मार्ग में बाधक नहीं बनती तो वह उसके विकास में भी सहायक हुए बिना नहीं रह सकती। अपनेको बृहत्तर समस्या का समर्थन करने में असमर्थ पानेवाले व्यक्ति, कभी-कभी जिस भद्दे ढंग से अपनी बात सामने रखते हैं, उससे हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते। स्वर्गीय सर विलियम विल्सन हण्टर ने कहा है कि भारत के तीन करोड़ व्यक्ति केवल एक बार खाकर रहते हैं। लोग इस कथन को इतना ठोस मान बैठे हैं कि और कोई बात उनके

दिमाग में ही नहीं घुसती। वे कहते हैं कि लोगों के नैतिक कल्याण की बात सोचने या कहने से पहले, हमें उनकी दैनिक आवश्यकताएं पूरी करनी चाहिए। उनका कहना है कि ऐसे लोगों के लिए भौतिक उन्नति ही नैतिक उन्नति है, और फिर वे अचानक लम्बी छलांग लगाकर कहते हैं कि जो बात तीन करोड़ के लिए सच है वही बात सारे संसार के लिए सच है। वे भूल जाते हैं कि अपवादों के आधार पर सही नियम नहीं बनाये जा सकते। मुझे आपसे यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह निष्कर्ष कितना बेमानी और हास्यास्पद है। यह तो कभी किसीने नहीं कहा कि अतिशय दरिद्रता का परिणाम नैतिक पतन के अतिरिक्त और कुछ हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य को जीने का अधिकार है, और इसलिए उसे पेट भरने के लिए भोजन और जहां जरूरी हो, वहां तन ढकने के लिए कपड़ा और रहने के लिए मकान पाने का हक है। लेकिन इस मामूली काम के लिए हमें अर्थशास्त्रियों अथवा उनके नियमों की मदद की जरूरत नहीं है।

संसार के प्रायः सभी धर्मग्रंथों का मंत्र है—"कल की चिन्ता मत करो।" सभी सुव्यवस्थित समाजों में रोज़ी कमाना दुनिया की सबसे आसान बात होनी ही चाहिए और होती है। वास्तव में किसी भी देश की सुव्यवस्था की कसौटी यह नहीं है कि उसमें कितने लखपति हैं, बल्कि यह है कि उसकी जनता में कोई भूखा तो नहीं रहता। अब केवल यही बात देखनी रह जाती है कि भौतिक प्रगति का अर्थ नैतिक उन्नति है, यह सब जगह और सब समय में लागू होनेवाला नियम माना जा सकता है या नहीं।

हम अब कुछ दृष्टान्त लें। भौतिक उन्नति के शिखर पर पहुंचते ही रोम का नैतिक पतन हो गया। यही हाल मिस्र का और शायद उन अधिकांश देशों का हुआ, जिनका इतिहास हमें उपलब्ध है। भगवान कृष्ण महाराज के वंशज और कुटुम्बी जब धन-धान्य से पूरित होकर मौज उड़ाने लगे तो उनका भी पतन हो गया। हम यह नहीं कहते कि राकफैलरों और कारनेगियों में सामान्य नैतिकता का अभाव है। लेकिन हम उदारता से उनकी कसौटी करने में प्रसन्न होते हैं। दक्षिण अफ़्रीका में मुझे अपने हज़ारों

देशवासियों के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला था। मैंने प्रायः अनिवार्य रूप से देखा कि जिसके पास जितना अधिक धन है, उसका नैतिक स्तर उतना ही गया-बीता है। और कुछ नहीं तो इतना तो कहा ही जा सकता है कि हमारे सम्पन्न लोगों ने निष्क्रिय प्रतिरोध के नैतिक संघर्ष को उतना आगे नहीं बढ़ाया, जितना कि ग़रीबों ने। धनाढ्यों के आत्म-सम्मान की भावना को उतनी चोट नहीं पहुंचती थी, जितनी कि निर्धन-से-निर्धन व्यक्तियों के हृदयों को पहुंचती थी। यदि खतरे से खाली न होता तो मैं अपने देश के ही दृष्टांत देकर प्रमाणित करता कि धन-सम्पत्ति का आधिपत्य वास्तविक उन्नति में बाधक हुआ है। मेरा ख्याल है कि अर्थशास्त्र के नियमों के विषय में अर्थशास्त्र-सम्बन्धी पाठ्य पुस्तकों की अपेक्षा विश्व के धर्म-ग्रन्थ कहीं अधिक सही मार्ग-दर्शन करते हैं। आज हम जिस प्रश्न को अपने से पूछ रहे हैं, वह नया नहीं है। यही सवाल दो हज़ार साल पहले ईसा से पूछा गया था। संत मार्क ने उस दृश्य का बड़ा सजीव विवरण दिया है। ईसा धीर-गम्भीर मुद्रा में हैं, उनमें उत्साह है। वह अमरता के विषय में चर्चा करते हैं। उन्हें अपने चारों ओर की दुनिया का ज्ञान है। वह स्वयं अपने समय के सबसे बड़े अर्थशास्त्री हैं। वह देश और काल के सदुपयोग में सफल हुए हैं। वह उनसे ऊपर उठ गये हैं। उनके ऐसे सर्वोत्तम मनोभाव के समय एक जिज्ञासु दौड़ा आता है, घुटने टेककर नमन करता है और पूछता है, "मेरे अच्छे स्वामी, मैं क्या करूं कि जिससे मुझे सनातन जीवन की विरासत मिल जाय?" और ईसा ने कहा, "तुम मुझे अच्छा क्यों कहते हो? एक को छोड़ अच्छा कोई नहीं है। वह है—ईश्वर। तुम उसके धर्मानुशासनों को जानते हो? व्यभिचार मत करो। किसीको मारो मत, चोरी न करो, झूठी गवाही न दो, छल-कपट का व्यवहार मत करो। अपने माता-पिता का आदर करो।" उसने उत्तर दिया और उनसे कहा, "स्वामी, इन उपदेशों पर तो मैं अपनी युवावस्था से ही चलता आया हूं।" तब ईसा ने उसकी ओर देखा, उसे दुलारा और कहा, "तुममें एक चीज़ की कमी है। लौट जाओ। जो कुछ तुम्हारे पास है, उसे बेच डालो और धन को ग़रीबों को दे दो। तुम्हें

स्वर्ग का ख़ज़ाना मिल जायगा। आओ, इस सलीव को हाथ में ले लो और मेरे पीछे-पीछे चलो।" यह सुनकर वह आदमी उदास हो गया और दुखी होकर चला गया, क्योंकि उसके पास वहुत-सा धन था। ईसा ने इधर-उधर देखा और अपने शिष्यों से कहा, "जिनके पास धन-दौलत है, उनके लिए ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाना कितना कठिन है?" और उनके ये शब्द सुनकर उनके शिष्य चकित रह गये। लेकिन ईसा ने वार-वार उत्तर दिया और उनसे वार-वार कहा, "वच्चो, जो लोग अपने धन-दौलत पर भरोसा करते हैं, उनके लिए ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाना कितना कठिन है। सूई के छेद से ऊंट का गुज़र जाना धनाढ्य के ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाने की अपेक्षा कहीं आसान है।" इस दृष्टांत में, जीवन के शाश्वत नियम को अत्यन्त उदात्त शब्दों में व्यक्त किया गया है। आज हमारे सामने जो प्रश्न है, उसके स्वीकारात्मक उत्तर के अनुमोदन में सबसे ज़ोरदार प्रमाण शायद संसार के महान उपदेष्टाओं के जीवन-चरित्र हैं। ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, कवीर, चैतन्य, शंकर, दयानंद, रामकृष्ण, ऐसे व्यक्ति थे, जिनका हज़ारों नर-नारियों पर भारी प्रभाव पड़ा और उन्होंने उनके चरित्र को गढ़ा। ऐसे महापुरुषों के अवतरण से संसार धन्य वना है और ये सव ऐसे थे, जिन्होंने स्वेच्छा से ग़रीवी को अपनाया।

यदि मेरा यह विश्वास न होता कि जिस हद तक हम आधुनिक भौतिक-वाद के पीछे पागलपन को अपना लक्ष्य वनाये रहेंगे, उस हद तक, उन्नति के मार्ग से हटकर अवनति की दिशा में अग्रसर होते जायंगे, तो मैं अपनी वात को इतने विस्तार से आपके सामने न रखता। मेरी धारणा है कि आर्थिक उन्नति, जिस अर्थ में मैंने उसे आपके सामने रक्खा है, वास्तविक उन्नति के विरुद्ध पड़ती है। यही कारण है कि हमारा प्राचीन आदर्श धन-सम्पत्ति को वढ़ानेवाली प्रवृत्तियों को सीमित करना रहा है। इससे सारी भौतिक आकांक्षाओं का अन्त नहीं हो जाता। हमारे वीच ऐसे लोग आज भी रहेंगे, जैसे कि सदा से रहे हैं, जो धन अर्जित करने को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं। लेकिन हमेशा से हमारी धारणा रही है कि यह आदर्श से नीचे

गिरना है। यह जानकर आप आनन्दित होंगे कि हममें से सबसे अधिक घनवानों ने प्रायः यह अनुभव किया है कि यदि उन्होंने स्वेच्छा से ग़रीबी अपनाई होती तो वह स्थिति उनके लिए उच्चतर होती। ईश्वर और माया, दोनों की वे एक साथ साधना नहीं कर सकते। यह एक अत्यन्त मूल्यवान आर्थिक सत्य है। इन दोनों में से हमें एक को चुनना होगा। आज पश्चिमी राष्ट्र भौतिकवाद के राक्षस के पैरों तले कराह रहे हैं। उनकी नैतिक उन्नति कुण्ठित हो गई है। वे अपनी उन्नति को रुपये, आने, पैसे में आंकते हैं। अमरीका की दौलत उनका मानदण्ड बन गई है। अन्य राष्ट्र भी धनाढ्य बनने के इच्छुक हैं। मैंने अपने देश के बहुत-से लोगों को यह कहते सुना है कि हम अमरीका की भांति धनवान तो बनेंगे, पर उनके तौर-तरीके नहीं अपनायेंगे। मेरा मानना है कि इस प्रकार का प्रयत्न किया गया तो वह असफल हुए बिना नहीं रहेगा। हम एक ही समय में 'बुद्धिमान, संयमी और क्रूर' नहीं हो सकते। मैं अपने नेताओं से अपेक्षा करूंगा कि वे हमें सिखावें कि हम संसार में सब से अधिक नीतिवान बनें। हमें बताया गया है कि हमारी इस भूमि पर किसी समय देवता वास करते थे।

ब्रिटिश छत्रछाया में हमने बहुत-कुछ सीखा है, लेकिन मेरा निश्चित मत है कि सच्ची नैतिकता की दिशा में ब्रिटेन हमें कुछ भी देने में असमर्थ है और यदि हम जागरूक नहीं रहेंगे तो भौतिकवाद की व्याधि के कारण उन सारी बुराइयों को अपना लेंगे, जिनका ब्रिटेन शिकार बना हुआ है। उस सम्बन्ध से हम तभी लाभ उठा सकते हैं जबकि हम अपनी सभ्यता और नैतिकता को ऊंचा रखें, अर्थात अपने गौरवशाली अतीत की डींग न हांककर, अपने जीवन में उन पुरातन नैतिक गुणों को उतारें और हमारा जीवन हमारे अतीत की साक्षी दे। तभी हम ब्रिटेन को और अपने को लाभ पहुंचा सकेंगे। हमें आदर्शों तथा उन्हें पूर्णतया कार्यान्वित करने से डरना नहीं चाहिए। हमारा राष्ट्र सच्चे अर्थों में उसी दिन आध्यात्मिक राष्ट्र बनेगा, जब हम सोने की अपेक्षा सत्य को अधिक दिखा सकेंगे, सत्ता और सम्पत्ति के आडम्बर की अपेक्षा हममें निडरता अधिक होगी और अपने प्रति प्रेम की निस्वत

दूसरों के प्रति उदारता अधिक बरतेंगे। यदि हम अपने घरों, अपने महलों और अपने मंदिर में धन के आडम्बर को प्रविष्ट न होने देकर, उनमें नैतिकता का वातावरण उत्पन्न करें, तो हम विना सेना के भारी बोझ को उठाये विरोधी शक्तियों से मोर्चा ले सकते हैं। हमें सबसे पहले प्रभु के राज्य और उसकी पवित्रता को प्राप्त करने की अभीप्सा करनी चाहिए और अचूक वचन है कि ऐसा करने से हमें सबकुछ उपलब्ध हो जायगा। सच्चा अर्थ-शास्त्र यही है। मेरी कामना है कि आप और हम दैवी सम्पदा का संचय करें और अपने दैनिक जीवन में उसे उतारें।

कलैक्टैड वर्क्स आफ महात्मा गांधी
(खण्ड १३)
२२ दिसम्बर, १९१६

: ३९ :

आर्थिक समानता

रचनात्मक कार्यक्रम के सम्बन्ध में अपने एक लेख में बताई गई तेरह चीजों में मैंने धन के समान वितरण का उल्लेख किया है।

समान वितरण का वास्तविक फलितार्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास इतनी सम्पत्ति होनी चाहिए कि वह अपनी सारी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, अधिक नहीं। उदाहरण के लिए यदि किसीका हाजमा कमजोर है और उसे रोटी के लिए केवल चार औंस आटे की जरूरत है और दूसरे को एक पौण्ड की, तो दोनों के पास अपनी इच्छाओं को पूरा करने की सुविधा होनी चाहिए। इस आदर्श को चरितार्थ करने के लिए सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था की पुनर्रचना होनी आवश्यक है। अहिंसा पर आधारित समाज और किसी आदर्श को पोषण नहीं दे सकता। शायद हम इस आदर्श को प्राप्त कर सकें, लेकिन हमें उसे ध्यान में रखना ही चाहिए और उसके निकट पहुंचने के लिए अधिक कार्य करना चाहिए। जिस हद तक अपने ध्येय की ओर हमारी प्रगति होगी, उसी हद तक अहिंसात्मक समाज की रचना में हमारा योगदान होगा।

किसी भी एक व्यक्ति के लिए जीवन के इस मार्ग को, बिना दूसरों के वैसा करने के लिए प्रतीक्षा किये, अंगीकार करना पूर्णतया संभव है और यदि एक अकेला व्यक्ति आचरण के कुछ नियमों का पालन कर सकता है तो उससे यह फल निकलता है कि व्यक्तियों का समूह भी वैसा कर सकता है। मेरे लिए इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि किसीको भी सही मार्ग पर चलने के लिए किसी दूसरे की राह देखने की जरूरत नहीं है। यदि लोगों

को ऐसा लगता है कि किसी उद्देश्य की पूर्ण सिद्धि नहीं हो सकती तो वे आमतौर पर उस काम को शुरू करने में हिचकिचाते हैं। यह मनःस्थिति वास्तव में प्रगति के मार्ग में बाधक होती है।

अब हम इस बात पर विचार करें कि अहिंसा के द्वारा समान विभाजन किस प्रकार किया जा सकता है। इस ओर उस व्यक्ति के लिए, जिसने इस आदर्श को अपने जीवन का अंग बना लिया है, पहला कदम यह है कि वह अपने निजी जीवन में आवश्यक परिवर्तन करे। भारत की गरीबी को ध्यान में रखकर वह अपनी इच्छाओं को कम-से-कम कर ले। अपनी कमाई को बेईमानी से मुक्त करे। सट्टे की इच्छा को त्याग दे। उसका घर जीवन के नये ढंग के अनुसार होगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह संयम से काम लेगा। जब वह अपने निजी जीवन में वह सब कर चुकेगा, जो संभव है, तभी वह ऐसी स्थिति में होगा कि अपने आदर्श का अपने साथियों और पड़ोसियों को उपदेश दे सके।

वास्तव में आर्थिक समानता के सिद्धान्त की जड़ में धनिक का अपने फालतू धन का ट्रस्टीपन निहित है, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार वे अपने पड़ोसी से एक रुपया भी अधिक नहीं रख सकते। ऐसा कैसे किया जा सकता है? अहिंसात्मक ढंग से? अथवा धनिक को उसकी सारी सम्पत्ति से वंचित कर देना होगा? ऐसा करने के लिए स्वाभाविक रूप से हमें हिंसा का सहारा लेना पड़ेगा। यह हिंसात्मक कदम समाज को लाभ नहीं पहुंचा सकता, इससे समाज की हानि होगी, क्योंकि वह धन इकट्ठा करने की प्रतिभा रखनेवाले एक आदमी को खो देगा। इसलिए अहिंसात्मक मार्ग स्पष्टतः अधिक अच्छा है। धनिक अपनी सम्पत्ति का स्वामी रहेगा, पर उसमें से वह वैयक्तिक आवश्यकताओं के लिए जितना उचित है, उतना ही खर्च करेगा, शेष का उपयोग समाज के हित के लिए करने के हेतु वह ट्रस्टी बन जायगा। इस तर्क में यह माना गया है कि ट्रस्टी में ईमानदारी होगी।

ज्योंही मनुष्य अपनेको समाज का सेवक मानेगा, उसके लिए कमायेगा, उसके हित के लिए खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी और

उसके साहस में अहिंसा होगी। इसके अतिरिक्त यदि लोगों के मस्तिष्क जीवन की इस पद्धति की ओर आकर्षित होंगे तो समाज में अहिंसात्मक क्रान्ति उत्पन्न होगी और वह भी विना किसी कटुता के।

पूछा जा सकता है कि क्या किसी भी जमाने के इतिहास में मनुष्य के स्वभाव में इस प्रकार के परिवर्तन का उल्लेख मिलता है? व्यक्तियों में तो निस्सन्देह ऐसे परिवर्तन हुए हैं। सारे समाज में शायद ऐसे परिवर्तन न बताये जा सकें। लेकिन इसका अर्थ केवल इतना ही है कि अबतक अहिंसा का बड़े पैमाने पर प्रयोग नहीं किया गया। जाने कैसे हमारे अन्दर इस झूठी मान्यता ने घर कर लिया है कि अहिंसा मुख्यत: व्यक्तियों का अस्त्र है और इसलिए उसका उपयोग उसी क्षेत्र तक सीमित रहना चाहिए। वस्तुत: बात ऐसी नहीं है। अहिंसा निश्चित रूप से समाज का धर्म है। लोगों को इस सचाई का कायल करने का मैं इस समय प्रयत्न और प्रयोग कर रहा हूं। चमत्कारों के इस युग में कोई भी यह नहीं कहेगा कि अमुक चीज या विचार निकम्मा है, क्योंकि वह नया है। ऐसा कहना भी कि यह मुश्किल है, इसलिए असम्भव है, युग की भावना से संगत नहीं होगा। जिन चीजों की कल्पना नहीं की जाती, वे रोज होती पाई जाती हैं। असम्भव सम्भव होता जा रहा है। हिंसा के क्षेत्र में आश्चर्यजनक खोजों को देखकर इन दिनों हम लगातार चकित हो रहे हैं। लेकिन मैं मानता हूं कि उससे कहीं अधिक अकल्पनीय और असम्भव दीख पड़नेवाली खोजें अहिंसा के क्षेत्र में होंगी। धर्मों का इतिहास ऐसे दृष्टान्तों से भरा पड़ा है। समाज से धर्म की जड़ उखाड़ देने की कोशिश करना निष्फल होगा। यदि ऐसा प्रयास सफल हो जाय तो उसका अर्थ होगा समाज का विनाश। अन्धविश्वास, कुरीतियां तथा दूसरी अपूर्णताएं युग-युग में प्रविष्ट हो जाती हैं और धर्म को कुछ समय के लिए कलुषित कर देती हैं। वे आती हैं और चली जाती हैं। लेकिन धर्म अपने-आप में कायम रहता है, क्योंकि व्यापक अर्थ में संसार का अस्तित्व धर्म पर निर्भर करता है। धर्म की अन्तिम परिभाषा ईश्वरीय नियम के प्रति झुकाव कही जा सकती है। ईश्वर और उसके नियम पर्यायवाची हैं। इसलिए ईश्वर

का अर्थ है अविचल और जीता-जागता कानून। ईश्वर को कभी किसी ने नहीं पाया है। लेकिन अवतारों और पैगम्बरों ने अपनी तपस्या से मानव जाति को सनातन कानून की धुंधली झांकी दिखाई है।

लेकिन यदि भरसक प्रयत्न करने पर भी सच्चे अर्थों में धनिक गरीबों के संरक्षक नहीं बनते और गरीब अधिकाधिक कुचले जाते हैं और भूखों मरते हैं, तब क्या हो? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के प्रयत्न में मुझे अहिंसा-त्मक असहयोग और सिविल नाफ़रमानी सही और अचूक साधन के रूप में प्राप्त हुए। धनिक समाज में बिना गरीब के सहयोग के धन इकट्ठा नहीं कर सकता। आरम्भ से ही मनुष्य हिंसा से परिचित रहा है, क्योंकि उसने इस शक्ति को अपने स्वभाव की पशुता में से पाया है। जिस समय वह पशु की स्थिति से उठकर मनुष्य की स्थिति में आया तब अहिंसा की शक्ति का ज्ञान उसकी आत्मा में प्रविष्ट हुआ। यह ज्ञान उसके अन्दर धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से विकसित होता रहा है। यदि यह ज्ञान गरीबों में भी समाविष्ट और प्रसारित हो तो वे बलवान बनेंगे और जिन कुचलनेवाली असमानताओं ने उन्हें भूखों मरने की स्थिति में ला दिया है, उनसे अहिंसा-त्मक साधनों द्वारा अपनेको मुक्त करने का उपाय सीखेंगे।

हरिजन
२५ अगस्त, १९४०

: ४० :

मजदूर-संघों के संबंध में

आज हम यहां इसलिए इकट्ठे हुए हैं कि मजदूर अपने संघ की स्थापना करें, उसके नियम स्वीकार करें और आवश्यक प्रस्ताव पास करें।

इस काम को शुरू करने से पहले मुझे आपसे यह कह देना चाहिए कि हम जो संगठन करने जा रहे हैं, उसके उद्देश्यों को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। दो या तीन साल पहले सम्माननीय अनसूयाबेन ने एक बुनकर संघ की स्थापना करने का विचार किया था और इस दिशा में कुछ काम भी किया था। लेकिन उस समय मैंने उनको सलाह दी थी कि यह काम बड़ी जिम्मेदारी का है और यद्यपि हमने इसे मजदूरों की सेवा करने के उद्देश्य से हाथ में लिया है, फिर भी यदि हम बाद में पूरी तरह इस जिम्मेदारी को निभाने में असफल रहे तो मजदूरों की सेवा करने के बदले उनका बहुत नुकसान कर सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि आज मैं इस भय से मुक्त हूं, लेकिन मेरे सामने यह बात साफ हो रही है कि भारत की स्थिति, कुछ रूपों में, इतनी बदल रही है कि इन परिवर्तनों को सावधानी से देखना, उनका अध्ययन करना और उन्हें संभालने के लिए ऐसे संगठनों की स्थापना करना हमारे लिए अच्छा होगा। मैं आपको जो समझाना चाहता हूं वह इतना ही है कि अपने संगठन का संचालन करने के लिए यदि हमारे पास ईमानदार और अपने कर्तव्यों को भली-भांति समझनेवाले कार्यकर्ता नहीं हैं तो हम अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारेंगे। अगर ऐसे लोग हमारे पास न हों तो हमें संघ के संचालन के कठिन काम को हाथ में नहीं लेना चाहिए। दो साल पहले मैंने यही बात कही थी और आज फिर उसीको दोहराता हूं।

आज हमारे देश के मजदूरों में अनेक प्रकार की हलचलें जारी हैं। युद्ध के वाद ब्रिटिश तथा यूरोपीय राज्यों द्वारा शासित सब देशों में इतनी खलवली मची हुई है कि यदि मजदूर अपने हितों की ओर ध्यान नहीं देंगे और उनकी रक्षा नहीं करेंगे तो वे कुचल दिये जायंगे। आज जो लोग एक राष्ट्र के रूप में खड़े नहीं हो सकते और अन्य राष्ट्रों के साथ कदम नहीं मिला सकते, उनके लिए टिकना असंभव होगा। आज सरकार का तन्त्र ही ऐसा है कि जो उसमें अपना हिस्सा अदा नहीं करेगा और अपने हितों को नहीं पहचानेगा, वह अवश्य ही नष्ट हो जायगा। पुराने जमाने में हमारे लिए यह जानना जरूरी नहीं था कि राजा क्या करता है। उसके नाम का उल्लेख करने तक की आवश्यकता नहीं थी। उस समय इतना ही काफी होता था कि समय पर कर चुका दिया, मौका पड़ने पर हिम्मतभरा जवाव दे दिया अथवा रिश्वत देकर कुछ समय के लिए अपनी जान वचा ली। आज इस तरह से कोई नहीं वच सकता। हम चाहें या न चाहें, प्रशासन के साथ हम इतने निकट से जुड़ गये हैं कि यदि वारीकी से उसके मामलों को नहीं देखेंगे और अपने हितों को नहीं समझेंगे तो निश्चय ही कुचल जायंगे। इसीसे मैं धार्मिक वृत्तिवाला होते हुए और राजनीति में किसी प्रकार की दिलचस्पी न रखते हुए पिछले कुछेक महीनों से राजनीति में ही जुटा हूं। इसका मुख्य कारण यह है कि राजनैतिक विषयों में इस तरह भाग लिये विना मैं अपने धर्म का पालन कर सकूंगा, इसमें मुझे शंका है। और मैं आपको यही बात सीधे-सादे शब्दों में समझाना चाहता हूं, अर्थात विना राजनीति में कुछ अंशों तक भाग लिये मजदूरों के पास कोई चारा ही नहीं है।

पुराने जमाने में हमारा परिचय केवल हमारे खेतों से था। उस समय न मिलें थीं, न मिल-मालिक, न मिलों से सम्बन्धित कानून। ये सब चीजें अब आ गई हैं। इसलिए हमें जानना चाहिए कि ये क्या हैं। धर्म और पारिवारिक जीवन के नियम-कायदे हैं। फिर हम उन्हें कानून नहीं कहते, क्योंकि उनमें दण्ड अथवा जुर्माने की व्यवस्था नहीं होती। अब ऐसा समय आ गया है कि कोई एक ही व्यक्ति न हमारा भला कर सकता है, न हमें हानि पहुंचा

सकता है। हमें अपने मामलों की व्यवस्था स्वयं ही करनी होगी। इस सवमें यह हो सकता है कि सरकार या विधान परिषद में हमारे प्रतिनिधि हमारे नाम पर हमारा ही गला काटें। इसलिए भी हमें इन विषयों को समझना होगा। हमें सीखना होगा कि अपने वच्चों का पालन-पोषण कैसे करें, यह पता लगाना होगा कि उनकी पढ़ाई की सुविधाएं इतनी कम क्यों हैं और जानना होगा कि अनाज के भाव क्यों वढ़ते हैं। जो माताएं यहां उपस्थित हैं, उन्हें सीखना होगा कि वच्चों की परवरिश कैसे की जाती है। ऐसा समय आयेगा जवकि हमारे लिए अपने वच्चों को पाठशालाओं में, जो खुलेंगी, भेजना अनिवार्य होगा। यदि हम यह समझने की कोशिश नहीं करते कि इन वातों से हमारा हित होता है या अहित, और यदि हम आत्म-निर्भर नहीं वनते तो हम मृतक के समान हैं। हमारे यहां मजदूरों के संघ हमेशा से रहे हैं, जिनमें वुनकर, लुहार और कतवैये इकट्ठे होकर अपना संगठन कर सकें, यह जान सकें कि उनमें अपने अन्दर अच्छाइयां और वुरा-इयां क्या हैं और बुराइयों को दूर करने के उपाय करें। मैं आपको फिर चेतावनी देता हूं कि आप शौक से अपने संघ वनाइये, लेकिन ध्यान रक्खें कि आप अपने जो नियम निर्धारित करते हैं और अपने हितों को सौंपने के लिए जिन प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं, वह सव अपनी जिम्मेदारी को पूरी तरह से समझकर करते हैं। इन व्यक्तियों पर आप न केवल अपने रुपये-पैसे और कारोवार के सम्वन्ध में कड़ी निगाह रखेंगे, वल्कि इस वात की भी निगरानी रखेंगे कि उन्होंने आपके नाम पर वास्तव में क्या किया है और आपकी ओर से कहां-कहां हस्ताक्षर किये हैं। हमें ये सारी वातें देखनी होंगी।

दूसरी एक और वात मुझे आपसे कहनी है। आपमें से जो लोग यह मानते हों कि हम जिन संघों की स्थापना कर रहे हैं, उनका उद्देश्य मिल-मालिकों से संघर्ष करना या उन्हें दवाना है, अथवा इन संघों का उपयोग हम ऐसे उद्देश्यों के लिए कर सकेंगे, उन्हें मैं सलाह दूंगा कि वे प्रस्तावित संघ में हर्गिज शामिल न हों। मैंने अपने जीवन में कभी कोई ऐसा काम नहीं किया, जिससे मिल-मालिकों पर दवाव पड़े या उनके हितों को हानि

पहुंचे और न मैं कभी अपने हाथों ऐसा होने दे सकता हूं। लेकिन यदि वे मजदूरों को दवाने की कोशिश करते हैं तो मैं मजदूरों को वचाने के लिए अपने प्राण देने को तैयार रहूंगा। सम्माननीय अनसूयावेन और शंकरलाल में से कोई कभी मिल-मालिकों के प्रति तनिक भी दुर्भावना नहीं रखता। मैं अच्छी तरह से जानता हूं कि वे मजदूरों की सेवा करना चाहते हैं। इस-लिए जव-जव मुझे अवसर मिलता है, मैं उनके इस काम में सहयोग देता हूं और समय-समय पर उनसे कहता हूं कि यदि आप सचमुच मजदूरों की सेवा करना चाहते हैं तो आपको मजदूरों और मिल-मालिकों, दोनों के हितों की कामना करनी चाहिए। मिल-मालिकों को किसीकी सेवाओं की जरूरत नहीं है। मजदूर गरीव, डरपोक और भोले हैं और उन्हें दूसरों की सेवाओं की आवश्यकता है। संघों की स्थापना करके हम मिल-मालिकों को धम-काना नहीं चाहते, वल्कि मजदूरों की रक्षा करना चाहते हैं और इतना करने का हमें निश्चय ही अधिकार है।

इसलिए ऐसे संघ की स्थापना करते समय आपको विचारपूर्वक तीन वातों का निश्चय करना है:

१. आप मजदूर-संघ के नियमों की जांच कर लें।

२. मिल-मालिकों की मजदूरों पर अनुचित सत्ता न हो।

३. संघ में शामिल होने के लिए आप प्रवेश-शुल्क देंगे और वाद में हर महीने चंदा देंगे।

इसके वाद आपको इस वात पर विचार करना है कि यदि आपको अधिक वेतन मिलने लगे तो आप उसका क्या करेंगे? इस रुपये को यदि मैं शरावघर में खर्च कर दूं या चाय पीऊं अथवा वेकार की चीजें खाऊं तो इसकी अपेक्षा अच्छा है कि मैं इस रुपये को लूं ही नहीं। निजी तौर पर मैं पसन्द करूंगा कि इस रुपये से मैं अपनी पत्नी को राहत पहुंचाऊं और उसे शिक्षा दूं। यदि इतने पर भी और रुपये मेरे पास वच रहे तो मैं उसके लिए एक शिक्षिका रख दूंगा, अपने वच्चों को पढ़ाऊंगा और अपने कपड़े साफ करा लूंगा, सील और गंदगी से भरे घर को छोड़कर अधिक अच्छे घर में

चला जाऊंगा। अगर मैं ऐसा करूं तो अतिरिक्त धन का मिलना अच्छा है। यदि हम यह सब संघ बनाकर कर सकें तो संघ की स्थापना करना ठीक होगा, लेकिन मुझे अब भी शक है और मैं बार-बार कहता हूं कि यदि हम यह सब भूल जायंगे तो आपकी सेवा करने के इच्छुक हम और आप भी परलोक में पापी होंगे।

एक समय था जब सब लोगों में धार्मिक वृत्ति थी। इन सारी प्रवृत्तियों में शामिल होकर और हाथ बंटाकर मैं यह देखने का प्रयत्न कर रहा हूं कि क्या इस मार्ग पर चलकर भी इस देश के लोगों में धार्मिक वृत्ति को फिर से जागृत किया जा सकता है। मेरा पक्का विश्वास है कि यदि हममें यह जागृति आ जाय तो इस कठिन समय में हम बच जायंगे, अन्यथा हमारा मरण निश्चित है। यह धार्मिक वृत्ति पैदा करना बहुत कठिन नहीं है। बिल्कुल आसान है और बहुत ही आसानी से इसका विकास किया जा सकता है। मैं एक शब्द में आपसे कहता हूं कि जो स्वेच्छाचारी है, स्वच्छन्द वृत्ति का है, संयम का पालन नहीं करता वह धर्म से दूर है। जो किसीका अहित नहीं करता, जो किसीसे एक पैसा भी नहीं छीनता, वह धर्म के अर्थ को समझता है। अगर हम शराबी, बदमाश और शैतान हों तो हमारा जीना और कमाना सब बेकार है। यदि हम सच्चे, भले, सीधे, विवेकशील और धार्मिक वृत्तिवाले बनें तो हमारा जीना सार्थक है। हमारे संघ भले ही बनें, वे हममें समझ पैदा करेंगे और हममें एकता बढ़ावेंगे। हम लोग विधिपूर्वक काम करने में समर्थ होंगे। मुझे मालूम है कि मिल-मालिक चाहते हैं कि संघ बने। आज हर किसीके सामने सुलझाने के लिए कोई-न-कोई कठिनाई है और अलग-अलग समाधान के लिए शिकायतें हैं। अगर संघ हो तो उसके अधिकारियों से चर्चा करके सुचारु रूप से समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। इस प्रकार संघ दोनों पक्षों के लिए हितकर है। अतः आप अच्छी तरह सोच-समझकर आगे कदम उठावें।

नवजीवन (गुजराती)
२९ फरवरी, १९२०

: ४१ :

स्वदेशी का नियम

स्वदेशी का नियम उन नियमों में से है, जिसे वर्तमान युग ने लागू किया है। प्रकृति के नियमों की भांति आध्यात्मिक नियमों को लागू करने की आवश्यकता नहीं होती, वे तो अपने-आप लागू हो जाते हैं। लेकिन अज्ञानता अथवा अन्य कारणों से मनुष्य प्रायः उनकी अवहेलना करते हैं या उन्हें मानते नहीं हैं। तब उनके मार्ग को सुस्थिर करने के लिए प्रतिज्ञा जरूरी होती है। जो व्यक्ति स्वभाव से शाकाहारी है, उसे अपनी शाकाहार की वृत्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रतिज्ञा की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि सामने आने पर भी सामिष भोजन उसे ललचाता नहीं, उसमें घृणा ही उत्पन्न करता है। स्वदेशी का नियम मनुष्य के बुनियादी स्वभाव के साथ गहरा जुड़ा हुआ है, लेकिन आज वह विस्मृति के गर्त में लीन हो गया है। अपने अंतिम और आध्यात्मिक अर्थ में स्वदेशी का उद्देश्य व्यक्ति की आत्मा को भौतिक बन्धनों से एकदम मुक्त करता है, कारण कि यह भौतिक बाधा अपनी आगे की यात्रा से दूसरों के साथ तादात्म्य स्थापित करने के रास्ते में रोड़ा अटकाती है। इसलिए स्वदेशी का पुजारी सारी सृष्टि के साथ अपनेको एकाकार करने के प्रयत्न में ही भौतिक काया के बन्धन से छुटकारा चाहता है।

यदि स्वदेशी की यह व्याख्या सही है तो उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसके पुजारी का पहला कर्त्तव्य यह होगा कि वह अपने निकटतम पड़ोसी की सेवा में अपनेको अर्पित कर दे। इसमें बाकी के लोगों के हितों का त्याग, यहाँतक कि बलिदान, निहित है, लेकिन यह त्याग या बलिदान

केवल ऊपरी होता है। पड़ोसियों की सच्ची सेवा का स्वरूप ऐसा होता है कि उसका परिणाम कभी दूर के पड़ोसी की कुसेवा हो नहीं सकता, उल्टे सेवा करना होता है। 'यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे' यह एक अचूक सिद्धान्त है, जिसे हमें हृदयंगम करना चाहिए। दूसरी ओर जो मनुष्य दूर के दृश्य से अपनेको ललचाने देता है और सेवा के लिए धरती के छोरों तक दौड़ता है, उसकी न केवल महत्वाकांक्षा विफल होती है, बल्कि वह अपने पड़ोसी के प्रति अपने कर्त्तव्य में भी असफल होता है। एक ठोस मिसाल लें। जिस स्थान पर मैं रहता हूं, वहां मेरे कुछ पड़ोसी हैं, कुछ सम्बन्धी हैं, कुछ आश्रित हैं। स्वभावतः वे सब अनुभव करते हैं, जैसाकि उन्हें अधिकार है, कि उनका मुझपर कुछ हक है और वे मेरा सहयोग तथा सहायता पाना चाहते हैं। अब मान लो कि मैं उन सबको एक साथ छोड़ देता हूं और किसी दूर के स्थान पर लोगों की सेवा करने के लिए रवाना होता हूं। मेरे निर्णय से पड़ोसियों तथा आश्रितों की मेरी छोटी-सी दुनिया की गाड़ी पटरी से उतर जायगी और मेरी बेकार की बहादुरी से कई जगह के वायुमंडल के बिगड़ने की संभावना रहेगी। इस प्रकार स्वदेशी के सिद्धान्तों के उल्लंघन का पहला परिणाम होगा उन लोगों की दण्डनीय अवहेलना, जिनकी मैं सेवा करना चाहता हूं।

ऐसे और दृष्टान्त मुश्किल नहीं हैं। यही कारण है कि गीता में कहा गया है "स्वधर्मो निधन श्रेयः परधर्मे भयावहः" अर्थात् अपने कर्तव्य यानी स्वधर्म का पालन करते मर जाना कहीं अच्छा है, परधर्म भयावह है। यदि भौतिक वातावरण की दृष्टि से व्याख्या करें तो स्वदेशी की नीति हमारे हाथ आती है। स्वधर्म के विषय में जो गीता ने कहा है, वह स्वदेशी पर भी लागू होता है, क्योंकि यदि किसीके तात्कालिक वातावरण पर लागू करें तो स्वदेशी स्वधर्म ही है।

जब स्वदेशी सिद्धान्त को गलत समझा जाता है तभी उसमें से बुराई पैदा होती है। कहने का मतलब यह कि यदि मैं अपने परिवार के लाड़-प्यार में भले या बुरे सभी साधनों से पैसा हड़पने में लग जाऊं तो वह स्वदेशी के

सिद्धान्त का उपहास होगा। स्वदेशी का नियम मुझसे अपेक्षा रखता है कि मैं उचित साधनों से अपने परिवार के प्रति अपने वैध कर्त्तव्य का पालन करूं और ऐसा करने के प्रयत्न में से मुझे आचरण की सार्वजनीन संहिता का ज्ञान होगा। स्वदेशी पर अमल करने से किसीको हानि नहीं होगी और यदि हानि होती है तो मुझे संचालित करनेवाला स्वधर्म नहीं, वल्कि अहंकार है।

ऐसे अवसर होते हैं, जवकि स्वदेशी के पुजारी को समष्टि की सेवा की वेदी पर अपने परिवार को वलिदान करना आवश्यक हो जाता है। उस दशा में स्वेच्छा से किया गया वलिदान का ऐसा कार्य परिवार की सवसे ऊंची सेवा मानी जायगी। "जो अपने जीवन को वचाना चाहता है, वह उसे खोएगा और जो प्रभु की खातिर अपने जीवन को खोता है, वह उसे पायेगा।" यह वचन व्यक्ति के लिए जितना सही है उससे कम परिवार के वर्ग के लिए नहीं है। दूसरा दृष्टान्त लीजिये। मान लीजिये कि मेरे गांव में महामारी फैल गई है और उस रोग से पीड़ित व्यक्तियों की सेवा करने में मैं, मेरी पत्नी, वच्चे और परिवार के वाकी के सव लोग खत्म हो जाते हैं तो अपने सबसे प्रिय और निकटतम व्यक्तियों को अपने साथ शामिल होने के लिए तैयार करने में मेरा काम अपने परिवार के विध्वंस के रूप में नहीं होगा, वल्कि इसके विपरीत एक विश्वास-पात्र मित्र के रूप में होगा। स्वदेशी में स्वार्थ के लिए कोई स्थान नहीं है, या अगर उसमें स्वार्थपरता है तो वह सवसे ऊंचे दर्जे की है, जो कि सर्वोत्तम परोपकार से भिन्न नहीं है। अपने शुद्धतम स्वरूप में स्वदेशी सार्वजनीन सेवा का शीर्ष है।

इसी तर्क के आधार पर मैंने खादी को समाज के सन्दर्भ में स्वदेशी के सिद्धान्त का आवश्यक और अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम माना है। "वह कौन-सी सेवा है," मैंने अपने से पूछा, जिसकी इस समय भारत के कोटि-कोटि नर-नारियों को सवसे अधिक आवश्यकता है, जिसे सव आसानी से समझ और पसन्द कर सकते हैं, जो आसानी से की जा सकती है और जो साथ ही हमारे अधभूखे करोड़ों देशवासियों को जीने का सहारा देगी?" और

उत्तर मिला की खादी या चर्खे को लोकव्यापी बनाने से ही ये शर्तें पूरी हो सकती हैं।

कोई यह न माने कि खादी के द्वारा स्वदेशी के चलन से विदेशी मिल-मालिकों को नुकसान पहुंचेगा। किसी चोर को उसकी बुराई से विमुख कर देने या चुराई हुई सम्पत्ति को लौटवा देने से कोई हानि नहीं पहुंचती। इसके विपरीत पहले मामले में उसे जानबूझकर और दूसरे में अनजाने लाभ ही होता है। इसी प्रकार दुनिया-भर के सारे अफीम खानेवाले या शराब पीने-वाले अपनी व्याधि से मुक्त हो जायं तो कैंटीनवाले या अफीम-फरोश जो गाहकों से वंचित हो जायंगे, घाटे में नहीं कहे जा सकते। वे सच्चे अर्थों में लाभ पानेवाले होंगे। "पाप की कमाई" को मिटाना सम्बन्धित व्यक्ति अथवा समाज को घाटा नहीं है, सच्चा लाभ है।

यह मानना सबसे बड़ा भ्रम है कि स्वदेशी के कर्त्तव्य का आदि और अंत किसी प्रकार अमुक परिमाण में सूत कात लेना और उससे बुनी खादी पहन लेना मात्र है। समाज के प्रति स्वदेशी धर्म के पालन की दिशा में खादी पहला अनिवार्य कदम है। प्रायः ऐसे लोग मिलते हैं, जो पहनते तो खादी हैं, लेकिन दूसरी सब चीजों में विदेशी माल के लिए बड़ा शौक रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों को स्वदेशी का पालन करनेवाला नहीं कहा जा सकता। वे तो महज फैशन के पीछे हैं। स्वदेशी का पुजारी सावधानी से अपने वाता-वरण का अध्ययन करेगा और जहांतक संभव होगा, स्थानीय बनी चीजों को तरजीह देकर अपने पड़ोसियों को सहायता पहुंचाने का प्रयत्न करेगा, भले ही वे चीजें दूसरी जगह बननेवाली चीजों की अपेक्षा घटिया किस्म की या मंहगे दामों की क्यों न हों। वह उनकी कमियों को दूर करने का प्रयास करेगा, लेकिन उनके दोषों के कारण उन्हें छोड़ेगा नहीं और न विदेशी चीजें ही लेगा।

लेकिन यदि स्वदेशी को किसी दूसरी अच्छी वस्तु की भांति रूढ़ि बना दिया जाय तो उसकी भी हत्या हो सकती है। यह एक खतरा है, जिसके विरुद्ध सावधानी रखनी आवश्यक है। विदेशी उत्पादन कर्त्ताओं को इसलिए

त्याग देना कि वे विदेशी हैं और अपने देश के उन उत्पादनकर्त्ताओं पर उन चीजों को प्रोत्साहन देने में राष्ट्रीय समय और धन बरबाद करना, जिनके लिए वह उपयुक्त नहीं है, भयंकर मूर्खता और स्वदेशी भावना का निषेध होगा। स्वदेशी का सच्चा पुजारी विदेशी के प्रति कभी कोई दुर्भावना नहीं रखेगा, वह दुनिया में किसीके प्रति विरोध की भावना से प्रेरित नहीं होगा। स्वदेशीवाद घृणा का पंथ नहीं है। यह निस्वार्थ सेवा का सिद्धान्त है, जिसकी जड़ें पवित्रतम अहिंसा अर्थात प्रेम में हैं।

यंग इण्डिया
१८ जून, १९३१

: ४२ :

स्वराज्य की खातिर कातो

उस दिन कुछ लड़के-लड़कियां मेरे पास आये और मेरे हस्ताक्षर मांगे। साथ ही वे कोई सन्देश भी चाहते थे। उन सबको मैंने यह सन्देश दिया— "स्वराज्य की खातिर कातो", क्योंकि अभी तो मेरे दिमाग में सिवा चर्खे और स्वराज्य के और कुछ नहीं है। मैंने समझा कि मेरे नौजवान मुलाकाती इस बात से कहीं दुखी न हों कि उन्हें सामान्य उपदेश देने के अपेक्षा एक ऐसा सन्देश मिला, जिसमें कुछ पैदा करने के लिए कहा गया था और वह भी कताई जैसी नीरस चीज। लेकिन मेरे पूछने पर वे बोले, "हम कातेंगे।" श्री सीताराम शास्त्री मुझे बताते हैं कि लोग चर्खे इत्यादि की मांग कर रहे हैं। एक और मित्र, जो पुराने जेल-यात्री हैं, मुझसे कहते हैं कि मुझे निश्चित रूप से एक वर्ष केवल कताई के काम और खादी का सब जगह प्रचार करने के लिए रखना चाहिए। लेकिन इसके विपरीत बम्बई के एक वकील का यह पत्र मिला है:

"अगर आप हँसे नहीं तो मैं बिना किसी संकोच के कहूंगा कि वह कार्यक्रम सबके कातने का है।" ये शब्द आपने युक्त प्रान्त के कांग्रेसजनों से कहे थे, जिनमें आपके ही कहने के अनुसार कुछ ऐसे भी लोग थे, जो चर्खे और अहिंसा की खिल्ली उड़ा चुके थे। मगर यह देखकर आपके अचरज का पार न रहा कि वे दोनों ही चीजों से राजी हो गये हैं। इसीसे आपको परेशानी होती है। युक्त प्रांत के इन कांग्रेसी लोगों की वकालत का दावा न करते हुए भी मैं कहूंगा कि अधिकांश कांग्रेसवाले आपके ऐसे बयानों का सक्रिय विरोध क्यों नहीं करते, जैसे यदि करोड़ों लोग स्वराज्य की खातिर

अहिंसा की भावना से कातें तो शायद सविनय अवज्ञा की आवश्यकता ही न हो। और इसी प्रकार जब आप मन, वचन और कर्म से अहिंसा के पालन पर जोर देते हैं तब भी वे चुप रहते हैं, हालांकि वे जानते हैं कि यह असंभव है और आप उसके प्रवर्तक होते हुए भी स्वयं स्वीकार करते हैं कि अभी उस मंजिल तक नहीं पहुंचे। इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण केवल यह है कि आप कांग्रेस की शक्ति के प्रतीक बन गये हैं और आम जनता के लिए 'गांधी' और 'कांग्रेस' शब्द समानार्थक हैं। इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं और इसीलिए वे आपको, जिसे आप श्रद्धा के बिना आज्ञापालन कहते हैं, वह करके भी कांग्रेस से अलग होने देना नहीं चाहते। बेशक, यह मुख्य कारण हुआ, लेकिन कांग्रेस तंत्र के भी पेंच-पर-पेंच हैं। नरम लोग हैं, गरम लोग हैं और उनके समाजवादी सिद्धांत हैं। वे आपके नाम की शक्ति को जानते हैं और गरम लोगों के आर्थिक तरीके को जन-सामान्य में पहुंचाने के विरुद्ध उसका खूब इस्तेमाल करते हैं। हम यह विचित्र दृश्य देखते हैं कि जब मिल-मालिक खादी की हिमायत करते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि नितान्त सामान्य व्यक्ति भी अपने निजी स्वार्थों के विरुद्ध आचरण करते हैं। ऐसा क्यों है? एक बड़े अर्थशास्त्री ने, जिनपर आपकी बड़ी कृपा है, एक बार मुझसे कहा था कि आप पूंजीपतियों का अन्तिम सहारा हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि खादी कभी इतनी सस्ती होनेवाली नहीं है कि जन-सामान्य उसे ले सकें और इसलिए उनके स्वार्थों को कोई खतरा पैदा नहीं होगा। इसके विपरीत आपकी खादी और अहिंसा के सिद्धान्त के लिए जबानी सहानुभूति दिखाकर वे मजदूरों के साथ अपने व्यवहार में आपके 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त का फायदा उठा सकते हैं और अहमदाबाद के तरीके पर काम करनेवाले मजदूर-संघों को छोड़कर बाकी के संघों का चलना असंभव बना सकते हैं। आज तो हाल यह है कि पूंजीपति, जमींदार और यहां तक कि राजा भी अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार अहिंसा, सत्य इत्यादि शब्दों का मनमाना प्रयोग कर रहे हैं। जहांतक 'गरम' लोगों का सम्बन्ध है, वे 'नरम' लोगों से किसी प्रकार पीछे नहीं हैं। सर्वसाधारण

में प्रवेश के लिए उन्हें भी आपके नाम का सहारा चाहिए। इसीलिए वे कांग्रेस में जमा होते रहे हैं। नीति के रूप में अहिंसा को स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हैं। आपको खुश करने के लिए वे यह भी कह सकते हैं कि वे इससे सहमत हैं। मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि कांग्रेसियों में बहुत-से लोग सच्चे दिल से आपके ध्येय को माननेवाले हैं, लेकिन अधिकांश लोगों के आगे अपना-अपना स्वार्थ है। मैं यह नहीं कहता कि मैं कांग्रेसियों को आपसे ज्यादा जानता हूं, लेकिन मैं तो उल्टा आपकी बातों से असमंजस में पड़ गया हूं कि आपके अचरज का पार नहीं और आप 'परेशान' हैं। हां, यह बात दूसरी है कि जैसा आप कहते हैं कि आप 'सेगांव में पड़े हैं', इसलिए आपका जनता से सीधा सम्पर्क नहीं है। मान्य गांधीजी, मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूं कि यदि आप साधारण और साधारण से भी ऊंचे लोगों के, और कांग्रेसवाले भी तो मनुष्य ही हैं, स्वाभाविक हेतुओं का केवल ध्यान रखकर चलें तो आपके 'अचरज' और 'परेशानी' ऐसे ही लोप हो जायंगे, जैसे सूर्य की तीव्र किरणों से प्रभात का कोहरा छिन्न-भिन्न हो जाता है।"

लेखक के तर्क में बल है, इससे मैं इन्कार नहीं कर सकता। लेकिन मैंने जीवन-भर अपने सहकर्मियों की बात को जैसा उन्होंने कहा है, वैसा ही माना है, जबतक कि बेईमानी साफ जाहिर न हो जाय। इस तरह भरोसा करके मैंने कुछ खोया नहीं है। इसके विपरीत मुझे ऐसे लोगों के उदाहरण याद हैं, जो आरंभ में अनमने थे, लेकिन अंत में उत्साही बन गये। जब आपको बहुत-से पुरुषों और स्त्रियों से काम लेना होता है, तो अविश्वास रखकर चलना बुरी नीति है।

जो मिल-मालिक मुझे चर्खे के लिए भी रुपया देते हैं, वे मुझसे साफ कहते हैं कि उन्हें चर्खे की स्पर्धा का डर नहीं है। उनका जो भी हेतु है, वह स्पष्ट है। छिपा हुआ कुछ भी नहीं है। यदि चर्खे का अर्थशास्त्र गलत है तो चर्खा अपनी मौत मर जायगा। लेकिन राष्ट्र चाहे तो चर्खा उस समय भी जीवित रहेगा, जबकि एक भी मिल बाकी नहीं रहेगी। मिल की तुलना में खादी

महंगी है, लेकिन भारत के लाखों बेकारों को आंशिक और उपयोगी काम देती है, जैसाकि वह देती है, तो वह मिल के कपड़े से सस्ती है।

बंबई के वकील ने जो कुछ कहा है वह यदि सही है तो क्या बात है, जो जन-सामान्य मुझे इतना चाहते हैं और मैं कांग्रेस की शक्ति का प्रतिनिधित्व करता हूं? क्या इस प्रश्न का उत्तर सूर्य के समान प्रकाशमान इस सचाई से नहीं मिल जाता कि मैं शुद्ध अहिंसा का प्रतिनिधि हूं? भोली-भाली जनता ने अनजाने और सहज ही मुझे अपना मित्र, मार्गदर्शक और सेवक मान लिया है। मैं उन्हें अपना समझूं या वे मुझे अपना समझें, इसमें मुझे कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। यहां या दक्षिण अफ्रीका में मुझे उनको अपनी ओर खींचने के लिए कभी कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा। इस सम्बन्ध का कारण मैं तो प्रेम की अद्भुत शक्ति ही समझता हूं।

मुझे यह स्वीकार करने में शर्म नहीं आती कि बहुत-से पूंजीपति मेरे प्रति मित्र भाव रखते हैं और मुझसे डरते नहीं हैं। वे जानते हैं कि मैं भी पूंजीवाद का पूरा नहीं तो उतना ही अंत चाहता हूं, जितना बहुत आगे बढ़े हुए समाजवादी या साम्यवादी चाहते हैं। लेकिन हमारे तरीके भिन्न हैं, हमारी भाषा भिन्न है। मेरा ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त कामचलाऊ नहीं है, निश्चय ही उसमें धोखेबाजी नहीं है। मुझे विश्वास है कि जब और सब सिद्धान्त मिट जायंगे तब भी यह रहेगा। इसके पीछे दर्शन और धर्म दोनों की मान्यता है। यदि अभी तक धनवानों ने इसपर अमल नहीं किया तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह सिद्धान्त झूठा है। इससे तो धनवानों की अयोग्यता ही सिद्ध होती है। अहिंसा के साथ और किसी सिद्धान्त का मेल नहीं बैठता। अहिंसा का मार्ग ही ऐसा है कि यदि बुरा करनेवाला अपनी भूल को नहीं सुधारता तो अपना अंत अपने-आप बुला लेता है, क्योंकि या तो अहिंसात्मक असहयोग द्वारा उसे अपनी भूल का भान करा दिया जाता है, या फिर वह एकदम अकेला पड़ जाता है, और इसलिए समाजवादी तथा गरम लोग इतने बुद्धिमान अवश्य हैं कि जब कुछ करने का समय आवेगा, तब उनके द्वारा मेरे रास्ते में रुकावट डालने की संभावना नहीं होगी। वे

जानते हैं कि यदि मेरा तरीका सफल हुआ तो गरीबों और पीड़ितों को सुख मिलेगा। अपने तरीकों से काम करने के लिए वे तैयार नहीं हैं और उनमें इतनी देशभक्ति है कि वे मेरे काम में उस समय तक दखल नहीं देंगे, जब-तक कि उन्हें मेरी ईमानदारी और देश-प्रेम पर भरोसा है।

फिर भी मुझे मक्कारी से सावधान रहना है। चर्खा मेरी कसौटी है। मेरे पास ऐसी कोई सरल परीक्षा नहीं है, जिससे मैं जान सकूं कि किसी कांग्रेसवाले ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ाने या अछूतपन को मिटाने के लिए कितना काम किया है। लेकिन में यह आसानी से पता लगा सकता हुं कि उसने कितना काता है और किसी खास क्षेत्र में खादी किस हद तक चल पड़ी है। इसलिए जिन मित्र ने मुझसे चाहा है कि मैं केवल खादी के काम के लिए कुछ समय निकालूं, उनकी राय मैंने बिल्कुल मान ही नहीं ली है। मैं तो परिणाम से निर्णय करना चाहता हूं कि कुल मिलाकर कितना प्रयत्न किया गया है। मैंने गणित के अनुसार हिसाब लगाकर अन्तिम रूप में सिद्ध कर दिया है कि स्वयं कातकर गरीब-से-गरीब देहाती भी खादी पहन सकते हैं। कम-से-कम पूंजी और संगठन की मेहनत से अधिक से अधिक संख्या में गांववालों की जेब में इतना पैसा पहुंचाने की जो शक्ति कताई और उसके साथ की क्रियाओं में है, वह शक्ति और किसी भी देहाती दस्तकारी में नहीं है।

कांग्रेसियों को जान लेना चाहिए कि जबतक मुझे इस बात का पक्का सबूत नहीं मिल जाता कि समूचे भारत में खादी का काम सफलता के साथ हुआ है, तबतक दूसरी सब कठिनाइयों के दूर हो जाने पर भी मुझे सत्याग्रह जैसी प्रत्यक्ष कार्यवाही करने के लिए अपने पर या कांग्रेसियों पर भरोसा नहीं होगा। यह तो तभी संभव होगा जबकि कांग्रेसवालों की भारी संख्या गंभीरतापूर्वक डटकर और विवेक के साथ प्रयत्न करे। इसलिए मैं कहता हूं "स्वराज्य की खातिर कातो।"

हरिजन
१६ दिसम्बर, १९३९

गांधीजी की अन्य मननीय पुस्तकें

आत्मकथा
धर्म नीति
मेरे समकालीन
प्रार्थना-प्रवचन (भाग २)
आज का विचार (दो भाग)
पन्द्रह अगस्त के बाद
गीताबोध
दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास
ग्राम-सेवा
नीतिधर्म
हिन्द स्वराज्य
ब्रह्मचर्य (दो भाग)
मंगल प्रभात
सर्वोदय
हृदय मंथन के पांच दिन

